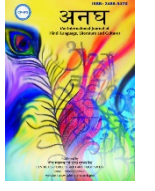




## अनघ

(An International Journal of Hindi Language, Literature and Culture)

Journal Homepage: <http://cphfs.in/research.php>



## भारतीय व एशियाई भाषाओं लोक भाषाओं के अध्ययन

प्रो. गंगा प्रसाद विमल

सेवानिवृत्त प्रोफेसर,

भारतीय भाषा केंद्र,

भाषा साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान,

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

### हिंदी का अतीत: जातीय अवधारणाओं के सूत्र

हिंदी का वर्तमान स्वरूप अतीत की अन्यान्य इकाईयों की निर्मिति है। एक विज्ञ व्यक्ति ही उन विभिन्न इकाईयों के सूत्रों का दिग्दर्शन करा सकता है तथा विभिन्न भाषिक संरचनाओं का विश्लेषण प्रस्तुत कर यह परिज्ञान दे सकता है कि वर्तमान स्वरूप में कौन से महत्वपूर्ण, अविच्छिन्न अंश हैं और भावी भाषिक परिवर्तनों में उनके रूप परिवर्तन की क्या संभावनाएँ हैं? लक्ष्य मात्र यह स्पष्ट करना है कि हिंदी की वर्तमान स्थिति में जिन पक्षों का भाषिक रूप भाषागत अनिवार्यताओं के रूप में स्थापित हो गया है वे भविष्य की भाषा पर भी प्रभाव डालते रहेंगे और भाषा के बदलावों में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहेंगे। अतः भाषा के मूलाधारों की अनिवार्यता अनुभव और बोध के आधार पर इतने से ही स्पष्ट हो जाती है। तथापि यह तथ्य भी उजागर होता है कि भाषा का अपने इतिहास से गहरा संबंध है। यदि इस संदर्भ में हम यह स्वीकार कर लें कि इतिहास ही वह आधार है जो उन बिन्दुओं, घटनाओं, प्रभावकारी अवयवों को संरक्षित रखता है जो काल की यात्रा में भाषा को अद्यतन बनाने की क्षमता का संवर्धन करते हैं। अर्थात् इतिहास के ऐसे अनेक अव्यक्त पक्ष हैं जिनकी प्रयोजनीयता तत्काल की अपेक्षा उचित अवसर पर ही अपनी सिद्धि पाती है। आशय यह है कि भाषाओं के संसार में जातीय अवधारणा के सूत्रों का अध्ययन

इसीलिए अनिवार्य-सा जान पड़ता है कि हम उन अदृश्य शक्तियों से परिचित हो सकें जिनकी भूमिका असंदिग्ध-सी है।

भाषा, जैसा कि विद्वान पहले भी कह चुके हैं एक जटिल-सी संरचना है और उसका विकास अकेले स्वनिर्मों और ध्वनियों से तो हुआ है किंतु भाषा को रूप प्रदान करने की असंख्य अन्य पीठिकाएँ हैं जो अलुप्त और अदृश्य तो हैं, मानवीय तर्क से भी उन्हें उभारना या उत्खनित करना संभव नहीं है। इसे समझने के लिए मनुष्य जीवन में प्रयुक्त होने वाले सभी कारकों का सहयोग लेना अनिवार्य होगा। मोटे तौर पर हम जिस क्षेत्र में रहते हैं उस क्षेत्र की भौगोलिक विशेषताएँ अन्यान्य रूपों में भाषा में अवतरित रहती हैं। ध्यान रहे अभी हम सिर्फ भौगोलिक विशेषताओं की चर्चा कर रहे हैं जिसमें प्रमुख रूप से मौसमों के दृश्य रूप और उनसे उत्पन्न होने वाले अनुभवों के अदृश्य रूप यानी भाव रूप गिने जा सकते हैं। भूगोल के ये सारे प्रभाव मनुष्य शरीर और चेतना को बेतरह प्रभावित करते हैं। और इन प्रभावों का अमित असर मनुष्य और उसके समाज पर पड़ता है। यह असर भौगोलिक क्षेत्र छोड़ने के बावजूद बना रहता है, भले ही स्थायी रूप से छोड़ रहे हों या अस्थायी रूप से भौगोलिक क्षेत्र छोड़ने के बाद वह स्मृति का हिस्सा बन कर अपने प्रभाव का असर दर्ज करता रहता है। प्रभाव के असर का दर्जा वह भाव प्रणीत एकांत है जो अबोलेपन में भी उपस्थित रहता है। भाषा

में इसे युक्तिपूर्वक प्रकट करने की अनेक पद्धतियाँ हैं -- यहाँ हम उनकी चर्चा विस्तार भय से नहीं करेंगे केवल इतना दर्शाएंगे कि भाषा के साथ लोक का संबंध विचित्र है। भाषाविद् इसे अनेक दृष्टांतों से पुष्ट करते हैं। मोटे तौर पर माना जाता है कि हमारे मस्तिष्क में जो कुछ भी उत्पन्न होता है उसका हमारे लोक से गहरा नाता है।

भारतीय लोक अवधारणा पर ध्यान दें तो हम पायेंगे कि लोक क्षेत्र अपरिहार्य रूप से हमारे संवर्धन से जुड़ा हुआ है। यहाँ संवर्धन जैसी लचीली धारणा का उपयोग हम सिर्फ इसलिए कर रहे हैं कि नकारात्मक रूप से जानने पर कि हमारा पूर्ण विकास नहीं हुआ यह भी भावी संदर्भों में विकास के ही पथ का एक प्रकरण है। इसे अनुमान से तय किया जा सकता है। बीज अच्छा न होने से फसल के बर्बाद होने का अनुमान कृषक को हो जाता है फिर भी वह खेत को ठीक तरह से निवारता निखारता है कि बीज अपनी उत्तम श्रेणी में अगली खेप का निर्माण करने में सफल हो। एक खराब बीज की तुलना में अपेक्षाकृत मध्यम गुण वालों बीजों की ही प्राप्ति के लिए कृषक लगातार परिश्रम करता है यदि खेत में पुनर्नवा के गुण पैदा हो जाएँ जो प्राकृतिक स्तर पर संभव हैं, तो बीज के गुणधर्म में परिवर्तन आ जाता है -- जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यह संभव है। संभव ही नहीं -- ऐसा होता भी आया है। तथापि संभावना के रूप में गुण धर्म का रूप परिवर्तन ही इसे कहना पड़ेगा और हमारा लोक मार्ग गुण धर्म के रूप परिवर्तन का पथ प्रशस्त करता रहता है -- ऐसा विश्वास केवल जनश्रुतियों से ही पुष्ट नहीं होता बल्कि सत्यानुभव के अंतर्विलयी अनुभवों में ऐसा भाव उपलब्ध भी रहता है।

अतः यह स्पष्ट ही मानना चाहिए कि लोक जीवन से संबंधित प्रत्येक पक्ष मानव जीवन के लोकाधिवास से प्रभाव ग्रहण करता है। इसे समझने के लिए फिर दृष्टांत का सहारा लेना पड़ेगा अर्थात् मानव जीवन का लोकाधिवास लोक परिसीमाओं में व्याप्त कार्य कारण की श्रृंखलाओं यथा क्रिया व्यवहार से निर्मित है। लोक परिसीमाएँ भौतिक रूप से व्याख्यायित होती हैं उनमें नदी, नद, पहाड़, पोखर, ताल तलैया तथा भाव रूप में वानस्पतिक सौंदर्य, लोक चर्याओं में संरक्षित कलागत उपकरणों से पुनरुज्जीवित होने वाली धाराओं में प्रवाहमान होता है। अगर हम केवल लोकभाषा की इकाई का ही प्रभाव क्षेत्र देखें तो हमें लोक विस्तार की सीमातीत सरहद का अहसास होगा। तब हम यह नहीं कर सकते कि लोक का फैलाव किसी सीमित दूरी तक है, सीमा की रेखा तय करना भी कठिन है यह सीमा केवल ग्रामांचल या जनपदों की सीमाएँ ही नहीं है। कभी कभी कोई लोक इकाई पूरे राष्ट्रीय जीवन को अपने में समेटने में सक्षम दिखाई देती है और कभी-कभी ऐसे अनुभव भी होते हैं कि लोक इकाईयों को सीमित करना असंभव है। वस्तुतः लोक की संज्ञा अपने विशेषण के द्वारा ही सीमित होती है या अन्य

कोई संकेत ? अर्थात् यह विशेष ही संज्ञा की प्रतीति देने लगता है। अगर भारतीय शब्द की व्याख्या करें तो मानना पड़ेगा कि विशाल चारागाह का रूप लुभावना दृश्य ही एक असीमित राष्ट्रीय इकाई की संज्ञा बन गया। अतः इस बिन्दु को इस निष्कर्ष का छोर मानना पड़ेगा कि लोक शब्द सिर्फ एक भौगोलिक लोक की प्रतीति देने वाला नहीं है। भौतिकता से इतर उसकी प्राणशक्ति के तात्विक रूपों में देखना पड़ेगा कि क्या कहीं सीमा के संदर्भ में भाव है। अर्थात् लोक भाषा के क्षेत्र में एक लौकिक इकाई का अस्तित्व इसी भावपोषी तत्व के रूप में विद्यमान होता है। यह वाक्य निश्चयात्मक लग सकता है जैसा कि सीमाएँ भी निश्चयात्मक है। वाक्य पर ध्यान दें हरिद्वार शहर की सीमा समाप्त हो जाने के बाद देहरादून की क्षेत्र सीमा आरंभ हो जाती है ठीक दिसंबर 31, 1947 समाप्त होने के उपरान्त जनवरी 1948 का कालखण्ड आरंभ हो जाता है। ऐसे निश्चयात्मक वाक्य लोक स्वभाव को व्याख्यायित करते समय प्रयोग में लाने संभव नहीं हैं अर्थात् लोक स्वभाव निश्चयात्मकता का द्योतक नहीं है। इस वाक्य को लोक संरचना के संदर्भ में पारिभाषिक कहा जा सकता है अर्थात् यह एक उदारतावादी प्रबोधन है कि हम 'लोक' संबंधी अपने अध्ययन में एक सुनिश्चित निश्चयात्मकता की जगह उदारतावादी निश्चयात्मकता स्वीकार करें।

स्पष्ट है कि 'लोक' का विस्तार अनुमानित आधारों पर ज्यादा संगत लगता है। इसी आधार पर जब भी हम लोक के भाषायी स्वभाव का अध्ययन करते हैं तो यह मानकर चलते हैं कि लोक का भाषायी स्वभाव एकांगी नहीं है। उसके बहुरंगी होने का अर्थ है कि वह भाषा या भाषाओं के बहुप्रयोगों को अपने व्याकरणिक नियमों के अनुसार स्वीकार करता है। यह स्वीकृति लोक स्वभाव की ही अनुकृति होती है जिसे अनेक स्तरों पर स्वीकार किया जाता है।

भारतीय भाषाओं का लोक भाषाओं के साथ अंतः निर्भरता का जो स्वभाव है वह व्यापक स्तर पर सभी भाषाओं में विद्यमान है। आरंभ में ही स्पष्ट करना उचित होगा कि हिंदी का लोकभाषिक वृत्त बहुत फैला हुआ है वह भाषाओं और बोलियों के वृहत्तर क्षेत्रों से विकसित होते हुए सभी भाषाओं की परिसीमाओं तक फैला हुआ है। आज हम उसे चाहे किसी संज्ञा से अभिहित नहीं कर पाते तथापि वह संज्ञातीत भाव उदारता के ही गुण से सिंचित है। यह उदारता क्षेत्र विस्तार के भाव को व्यंजित करती है अतः प्रथम सोपान के रूप में लोकभाषिक वृत्त के अतिरिक्त रूप से उदार होने का अर्थ है कि वह अत्यंत विस्तृत है। यहाँ उसके विस्तार के क्षेत्र और विस्तार के इतिहास को एक ही आधार के रूप में स्वीकार करना उचित होगा।

हिंदी की लोक भाषाओं का सुनिश्चित वर्गीकरण, परिगणन भाषाविदों और दूसरे विद्वानों ने किया है। हम स्थूल रूप से उसका तीन पक्षों में वर्गीकरण कर सकते हैं। एक तो बाहरी घेरे की लोक

भाषाएँ हैं जो व्यापक क्षेत्र में प्रयुक्त होती हैं। उनमें क्षेत्रीय भाषिक विशेषताओं के रूप में प्रतीकों और बिम्बों का हस्तांतरण तो स्वाभाविक सी प्रक्रिया है। अर्थान्तरण की दृष्टि से सोचना पड़ेगा कि क्या वह सभी भाषिक इकाईयों में समान है तो कई प्रश्न सामने आ जाते हैं। जैसा स्पष्ट है यह स्थिति उस भावधारा से फूटी हुई है जो सार्वजनिक किस्म के मनोभावों से उदीस होते हैं। उन्हें हम पहली श्रेणी में रख सकते हैं। बहुधा पहली श्रेणी के सृजनपथ में सार्वभौमिक रूप से लोक स्वीकृति वाले विषय ही स्थान पाते हैं। किंतु दूसरे पक्ष में हम पाते हैं कि एक सामान्य स्तर से ऊपर उठे विषयों की नई शृंखला कुछ उच्चतर लक्ष्यों की ओर अभिप्रेरित उद्देश्य से उभरती नज़र आती है। इन दो पक्षों में लोक जीवन के प्रति भौतिक आसक्ति बहुधा अन्य अनेक कृतियों को जन्म दे डालती है। इन वृत्तियों का वर्गीकरण आसानी से हमें लोक साहित्य के महत्वपूर्ण पक्ष लोकभाषा संबंधी समस्याओं के सन्मुख ले आता है। वस्तुतः लोक भाषाओं की उपस्थिति उस बोधात्मक प्रत्यक्ष का अनुमान देने में सक्षम रहती है। अतः भाषा के अध्ययन के लिए इसे एक विश्वासप्रद आधार माना जाता है।

लोक भाषाओं का संसार निसर्ग का संसार है। वहाँ प्रभाव की उपस्थिति बहुत कम दिखाई देती है। दूसरे अन्य या विजातीय उपस्थिति के प्रति उसमें कौतुक भाव तो रहता है किंतु तत्काल स्वीकृति का भाव नहीं रहता इसलिए हम कह सकते हैं कि वह प्रभाव स्वीकार करने में पर्याप्त समय लेता है। इसे हम निसर्ग की पवित्रता कह कर प्रभावों के प्रति निष्प्रभावी स्वभाव की अंतरंगता खारिज करेंगे जो लोक भाषिक इकाईयों का प्रबल स्वभाव है। इसलिए हम स्थूल रूप से लोक भाषिक इकाईयों में दृढतापूर्वक अपने नैसर्गिक स्वरूप की संरक्षा का भाव ही देखेंगे। इससे यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि लोकभाषाओं का संसार संकीर्ण है। बल्कि अपनी उदारता के कारण तो भाषिक संरचनाओं में हम निरंतर उतार-चढ़ाव देखते रहते हैं किंतु भीतरी अनुशासन के रूप में एक अघोषित नियमबद्धता बराबर बनी रहती है। असल में यहीं से हमें यह स्वीकार करने में नहीं हिचकना चाहिए कि विजातीय भाषिक प्रावधानों में स्वजातीय का तिरस्कार नहीं है। अतः यहीं से यह जानने की कोशिश रहेगी कि लोक भाषाओं की उदारता अनुदारता बेनियम नहीं है। इसीलिए यह अनुरोध किया जाता है कि हम अत्यंत संवेद्य पक्षों के प्रति अतिरिक्त सजगता बरतें या इसलिए भी ज़रूरी है कि हमें भाषा के संदर्भ में मानना ही पड़ेगा कि कुछ ऐसे पक्ष अवश्य है जिन्हें संवेदनशीलता के कारण नहीं छूना चाहिए किंतु उन्हें हमेशा अकादमिक बहसों में केन्द्र में रखना चाहिए जिससे हमें उनके सही महत्व का अनुमान हो सके। यह तभी संभव होगा जब हम मानें कि मुख्य भाषाओं के अध्ययन के लिए बहुत ही अनिवार्य है कि हम उस 'रियल' या वास्तव से परिचित हों। असल में यह देखना पड़ेगा कि हम वास्तव की पहचान कैसे कर सकते हैं ?

वास्तव का अर्थ ही है कि जो अपने किसी अन्य प्रमाण की ज़रूरत न छोड़ता हो। भाषा के संदर्भ में वास्तव की पहचान के कुछ अन्य सूत्र भी हैं। एक तो बहुप्रयोग शब्द या भाषिक इकाई को सार्वजनिक बना डालता है। अब उसे भासित अर्थ का संवाहक कैसे बनाया जाए ? यह अर्थग्राही विनियोग द्वारा ही संभव होता है। अर्थग्राही विनियोग में कुछ ऐसी आधारभूमियों का सन्निवेश करना पड़ेगा जो शब्द के प्रयोजन का आभास दे सकें और शब्द के प्रयोजन के साथ-साथ उसके तात्कालिक महत्व को भी बल दें सकें जिससे खोजी मस्तिष्क आश्चर्य हो सके कि वह ठीक रास्ते पर है।

### लोक सम्पदा से निर्मित लोकाधार

वस्तुतः भाषा एक ऐसा माध्यम है जिससे हम अभिव्यक्ति के जटिल संसार को भी भासते हैं तथा संवाद द्वारा दूसरे दूरस्थ ज्ञान क्षेत्रों का अनुमान पाकर फिर ज्ञानदीप्ति के द्वारा उस विस्तृत क्षेत्र से भी परिचित होते हैं जिसमें असंख्य संभावनाएँ होती हैं। अतः यह स्वीकारना ही पड़ेगा कि ज्ञान के मार्ग में उन संकेतों का पर्याप्त महत्व है जो हमें आगे के रास्ते पर चलने की सुगमता प्रदान करते हैं। अगर इस आधार का "व्याख्यात्मक" अध्ययन करें तो हमें हासिल होगा कि हिंदी के परिपूर्ण ज्ञान के लिए हिंदी की लोक संपदा से भी परिचित होना पड़ेगा, जिससे हिंदी बनी है। मूल प्रश्न यही है कि हिंदी किससे बनी है ? और इसका आसान उत्तर है कि हिंदी के निर्माण में लोक भाषाओं, लोक बोलियों की रेखांकित करने योग्य भूमिका है बनी तो दूसरी आधारभूमियों से है परंतु अर्थपूर्ण तथ्य यह है कि वह भारतीय भाषाओं के जादुई स्पर्श से निर्मित हुई है। यहीं पर यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी का कोई अतीत नहीं है। वह है तो भारतीय भाषाओं का ही इतिहास। तथापि भाषाविदों के अध्ययन बताते हैं कि निकटस्थ अतीत से यही सूचना मिलती है कि हिंदी की लोक भाषाएँ अपभ्रंशकालीन भाषा संसार से या तो विकसित होती हैं तथापि इसके सही परिदृश्य तक पहुँचने के लिए हमें देखना पड़ेगा कि अपभ्रंश के निर्माण में किन-किन भाषा-बोलियों यथा लोक चर्याओं का हाथ है। याद रखना होगा कि हमारे साहित्य के इतिहास में हम भाषाओं के इतिहास से ही दृष्टि पाते हैं। या यदि कहें कि भाषाओं का इतिहास ही प्रकारान्तर से साहित्य का इतिहास भी है तथापि थोड़ा-सा ध्यान लोक साहित्य की ओर भी देना पड़ेगा। लोक साहित्य थोड़ा-सा व्यापक शब्द है। लोक व्याप्ति और क्षेत्र व्याप्ति में जितना अंतर है लगभग उतना ही आनुमानित अंतर भाषा या बोली में माना जा सकता है। या दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि भाषा या बोली एक दूसरे से अलग केवल प्रयोग के स्तर पर है अर्थात् प्रयोक्ताओं से ही निष्कर्ष ज्ञात हो सकता है कि किस स्तर के संवाद के लिए भाषा का प्रयोग कर रहे हैं। बोली अक्सर बहुत व्यक्तिगत, प्राइवेट, निजता से भरे भावबोध की अभिव्यक्ति के

लिए प्रयुक्त आधार है जबकि भाषा अपेक्षाकृत बड़े समुदाय से कुछ अतिरिक्त गुण संपन्न संवाद के लिए चुना जाने वाला आधार है। तथापि अचरज में डालने वाला तथ्य है कि बड़ी विकसित बौद्धिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए कभी-कभी सफल बोलीगत प्रयोगों का इस्तेमाल एक स्तरीय बौद्धिक कौशल ही कहा जा सकता है।

सारतः यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति न होगी कि भाषा और बोली की सरहद बहुत ही महीन, अदृश्य, अव्यक्त और अनिर्धारित है और यही आधार है जो बोली के महत्त्व को रेखांकित करता है। साथ-ही-साथ यह भी अनिवार्य रूप से स्थापित करता है कि बिना बोली या बोलियों के परिज्ञान से संपूर्ण भाषिक व्यापार अधूरा है। स्पष्ट है बोली या बोलियाँ अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का परिदर्शन इसी बिन्दु से कराती हैं। केवल यह कहने से काम नहीं चलेगा कि वे एक दूसरे की अनुपूरक हैं। अपितु एक कदम आगे चलकर स्वीकार करना पड़ेगा कि एक दूसरे के बिना किसी का अस्तित्व ही नहीं। हिंदी के अध्ययन के लिए अपभ्रंश और अपभ्रंशों का विधिवत अध्ययन अनिवार्य है। पृथ्वीराज रासो को पढ़ना तभी संभव हो सकता है जब हम राजस्थानी या डिंगल में निष्णात हों किंतु अपभ्रंश की जानकारीयाँ यहाँ आवश्यक है।

पृथ्वीराज रासो पर ही अपनी बात केन्द्रित करें और यह खोजने की कोशिश करें कि हिंदी में वाक्य विचार का कोई भीतर ही भीतर विकसित होने वाला ऐसा अंतर्संबंध है जिसका गहरा प्रभाव भाषा के प्रत्येक अंश पर पड़ता है तो मानना पड़ेगा कि 'रासो' में वह उपलब्ध है।

लोक साहित्य का आश्रय लेकर लोक जीवन संबंधी अध्ययन समय-समय पर अनेक अकादमिक केन्द्रों ने किए हैं। ऐसे अध्ययनों का आरंभ तो मिशनरियों ने अपने बहुउद्देश्य को सामने रखकर किया तथापि अकादमिक विवेचनात्मक अध्ययन से पूर्व कुछ संग्रहकर्ताओं ने पहले लोक साहित्य का संग्रह करना आरंभ किया और उसी संचयन पर आधारित अकादमिक अध्ययनों की परंपरा बाद में विकसित हुई। भारत के संदर्भ में इस ऐतिहासिक आधार को नहीं भूलना चाहिए कि आरंभिक आक्रांताओं, साम्राज्यवादी आग्रहों से प्रेरित योद्धाओं और औपनिवेशिक दृष्टियों के भिन्न-भिन्न रूपों में कार्य किया। उन्होंने यदि साहित्य में रुचि ली थी तो वास्तव में यह जानने के लिए कि इस आदिवासी क्षेत्र की भाषा कैसी है। यह आकस्मिक नहीं कि लगभग सभी देशों में आक्रांताओं या आक्रमणकर्ताओं या बल से भूमि विजय प्राप्त करने वालों के मंसूबे एक रहे हैं। राज्य पर काबू पाने का नियम था राजा को बंदी बना डालना और फिर उस पर दबाव बनाना कि वह मध्यस्थ का काम करे और विजयी राजा की प्रजा बनने पर अपने अधिकारों को छोड़ कर सामान्य नागरिक की तरह बन जाना। वस्तुतः यह प्रक्रिया मध्यकाल के सभी क्षेत्रों में रूढ़ रूप से विद्यमान थी। तथापि इस

प्रक्रिया का दृश्य रूप अपने आदिम रूप में कैसा रहा होगा ? यह अनुमान कर पाना असंभव लगता है किंतु कल्पना करें कि कोई विधर्मी राजा विजय प्राप्त करने के बाद क्या करता होगा ? विजयी प्रभु की गतिविधि में सर्वप्रथम प्रजाजनों पर आधिपत्य स्वीकार करना है और ऐसा करने के लिए प्रजा द्वारा सामूहिक स्वीकृति का आयोजन अनुष्ठान आयोजित करना या ऐसा करने के लिए आगे बढ़ आना है जिसे कोई भी समूह प्रदर्शन के रूप में प्रस्तुत करने के लिए कोई भी इकाई सामने आ सकती है। प्रश्न केवल यह है कि हर समाज में अपनी जय-पराजय, आशा-निराशा, अपने उत्थान-पतन की गाथा है। उसे वाणी क्या मिले ? यही प्रश्न है। प्राचीन साहित्य में गाथा जैसी कथात्मक उपस्थिति अन्य कारणों से चाहे स्वीकार कर ली जाए गाथा या कथा या संगत कथाक्रम इतिहास के ही संदर्भ में अपनी उपस्थिति दर्ज करता है। यह गाथा बहुश्रुत होती है। एक गाथा में अनेक संदर्भ भाषिक बुनावट में इस तरह गुंथे होते हैं कि हम कई बार प्रसंग कथाओं से उलझकर पूरी गाथा को बोध के स्तर तक लाने में असमर्थ रहते हैं। अब यदि हम गाथा में श्रुतगाथा से होने वाले कथारूप का आज व्याख्यात्मक, आलोचनात्मक आख्यान बना सकते हैं। परंतु हमारे विवेचन में यह मिलेगा कि गाथा का एक स्वतंत्र स्वरूप है और उसके विस्तार के पक्ष को बनाने वाली शक्तियाँ भिन्न हैं। अब यह कथन जाहिर है भाषा में होगा। और कभी-कभी ऐसा भी संभव है कि वह कूट भाषा में हो। जैसा कि प्राचीन गल्प साहित्य के बारे में ऐसी मान्यता है कि जो सीधा गल्प है वह अति परिचित माध्यम में सहज रूप से अपने अर्थ गांभीर्य का पक्ष नहीं खोलता और एक बहुअर्थी संदेह संप्रेषित करता रहता है क्योंकि उसका सामान्य अर्थ उसका मूल प्रयोजन या उद्देश्य अपने में समाहित करता ही नहीं है फलतः वह एक ढाँचागत प्रारूप मात्र रह जाता है जब कि अर्थ प्रेषित करने वाले अंश बहुधा दुरुह, संदर्भों से कटे हुए दीखते हैं। ऐसा क्यों होता होगा ? इस तरह के प्रश्न संदेह के दूसरे अर्थ संदर्भों, अन्य प्रकरणों से भी उभरते हैं। तथापि एक केंद्रीय संदेह के रूप में वह समूचा प्रकरण कभी-कभी यह भ्रम तो देता है कि उसका साधारण अर्थ ही उसका पूर्णार्थ नहीं है। इस कथन की परीक्षा एक पुराने पाठ से करनी ज़्यादा संगत होगी।

स्थूल रूप से पृथ्वीराज रासो पद्यात्मक कथा काव्य है। उसमें अन्य महाकाव्यों जैसी गुण संपन्नता है। और यह सहज भाव से उसकी प्रबंधकाव्यत्व की आरंभिक शर्त है। यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि भाषा में रचित, देव भाषा की परंपरा से अलग, प्राकृतों के वैभव से परे वह एक ऐसा सृजन है जो पुष्ट परंपरा से अलग है तथापि वह प्रबंध की दृष्टि से परंपरा का ही एक विकास है। गहराई से देखने पर संस्कृत प्रबंधकाव्यों के सौष्ठव के अनुरूप और अवहट्ट के

मानक प्रबंध काव्य के रूप में देखने पर हम सर्वांग श्रेष्ठ कृति भी उसे घोषित कर सकते हैं किंतु सौष्ठव और वैभव की यह इमारत पूरी परंपरा के वैभव का परिदर्शन भी प्रदान कर सकती है बशर्ते हम उसे अवहट्ट की मानक भाषा का ग्रंथ भी स्वीकार करें।

असली समस्या यहीं से आरंभ होती है। अवहट्ट को भाषा मानने का अर्थ है उसके भाषिक अस्तित्व से जुड़ी अस्मिताओं की भाषिक स्वायत्तता का सम्मान करना। यह तभी संभव है जब हम भारतीय लोक भाषाओं के विशद संसार का अस्तित्व स्वीकार करें और यह तभी संभव है जब उनके अकादमिक चरित्र को तमाम ऐतिहासिक संदर्भों में एक स्वतंत्र भाषिक इकाई के रूप में मान्यता दें। जैसा चर्चा में कहा गया है भारतीय भाषाओं का संसार एक दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। यह भी संकेतिक किया जा चुका है कि यह जुड़ाव नैसर्गिक जुड़ाव है। और इससे कुछेक भ्रांत धारणाओं को भी जन्म मिलता है। भ्रांत धारणाओं की सूची पर्याप्त लंबी हो सकती है यदि हम निरूपण की शैली छोड़कर भाषाई अंतर पर ही अवधान केन्द्रित करें तो आप पायेंगे कि भ्रांत धारणाओं के तर्क भाषाओं के पारिवारिक ढाँचे में भी परिवर्तन उपस्थित कर देते हैं। अतः सबसे पहले इसी बात पर बहस करनी पड़ेगी कि भारतीय भाषाओं में मौलिक प्रकार की समानताएँ हैं। इन समानताओं का विधिवत अध्ययन यह भी तर्क पुष्ट करेगा कि हर भाषिक इकाई का अपना अलग भौगोलिक स्वरूप है। अतः भूगोल की उपेक्षा भी ठीक नहीं है। तथापि भाषा के अध्ययन में भूगोल सिर्फ एक उल्लेखनीय तत्व है। वह भी भौगोलिक परिवेश अन्य अनेक परिवर्तनों से अछूते नहीं होते। अर्थ यह कि भूगोल का उल्लेख परिसीमाओं के संदर्भ में ही उचित लगता है। ध्यान देने योग्य तर्क है कि लोक सीमा और लोक व्याप्ति दोनों का भूगोल से गहरा नाता है। भूगोल की जटिलताओं को जानना भी दुष्कर कार्य है किंतु ज़्यादातर मामलों में उनसे जुड़े तत्व वे ही होते हैं जो भूगोल को सजग रखते हैं। मुख्य रूप से भूगोल का इतिहास नद, नदियों, ढलानों, खेतों, खण्डहरों, वृक्षों, फूलों, घासों, उपजों से इस तरह जुड़ा होता है कि स्थानिकता एक विशेष दर्जे के रूप में दिखाई देती है और इस सबका परिगणन लोक भाषा के उस स्थानीय स्वरूप में उभरता है जो होता तो लौकिक है किंतु उसके आदर्श सदैव अलौकिक और दिव्य होते हैं। पहाड़ों का ही उदाहरण लें तो पत्थरों की गुफाओं का भौगोलिक सौंदर्य उसे इतिहास के उन अनाम पन्नों से जोड़ देता है जो किसी घटना चक्र में कभी वहाँ घटित हुए होंगे। और इन सबका संरक्षण लोक भाषाओं द्वारा लोक साहित्य यथा लोक गीत, लोकगाथा, लोक नृत्य, लोक नाट्य और लोकानुभव से उत्पन्न होने वाली प्रत्येक इकाई में होता है। और सबसे अच्छी बात है कि यह अपनी पुनर्नवा होने वाली प्रक्रिया का हिस्सा बन कर एक छोटे से प्रसंग को व्यापकता प्रदान करता है क्योंकि लोक साम्राज्य में सक्रिय सभी सृजेता कुछ-न-कुछ

जोड़ते रहते हैं। यह जुड़ाव इतना नैसर्गिक है कि इसके आद्य रूप को पाना बड़ा दुष्कर है तथापि अपनी बुनावट में वह अतीत और परंपरा के श्रेष्ठ को ही आगे आने देता है।

आशय मात्र यह है कि हिंदी के वर्तमान को हम ठीक-ठीक तभी आँक सकते हैं जब हम लोक जीवन की भाषिक शैलियों से परिचित हों और यह भी तभी संभव है जब हम लोक बोलियों का विधिवत अध्ययन कर ज्ञान के उन सूत्रों का परिबोध पा सकें जिनके सूत्र अब खोजने दुष्कर लगते हैं। तर्क की आधारभूमि भाषिक संरचनाओं की व्यवहृत भूमिका से ही बोधगम्य मानी जा सकती है। अतः इसी एक मान्य आधार को यदि हम विकसित देखना चाहें तो स्वीकार करना पड़ेगा कि आज की भाषा की परिपूर्ण पुष्टि के लिए भी सह-भाषाओं यथा बोलियों का अध्ययन अनिवार्य है अन्यथा हम जिस अद्यतन भाषिक व्यवहार में निरत रहते हैं वह एकदम निराधार ही बोधगम्य होगा क्योंकि उसका कोई इतिहास नहीं होगा। भाषा प्रकरण में हम जब इतिहास की अपेक्षाओं का अध्ययन करते हैं तब यह स्पष्ट होता है कि अतीत से चले आ रहे भाषिक खेल में बीते व्याकरणिक विन्यास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। खासतौर पर अभिव्यक्ति की लगभग पूर्णाभिव्यक्त बोधमयता इसी आकांक्षा से फलीभूत होती है और हम सामाजिक स्तर पर आश्वस्त होते हैं कि जो कुछ लक्षित है, कल्पनालोक में स्थित है वह वैसा का वैसा अभिव्यक्त हो पायेगा। इस प्रकार हम जानने लगते हैं कि हमारी भाषाओं की सामूहिक शक्ति में उस गुणधर्म की उपस्थिति है जो संवाद की पूर्णाभिव्यक्ति संभव बनाता है और इस एक प्राप्ति की दिशा में हमारे ऐतिहासिक संसार को देखना अनिवार्य होगा और तभी हम जान पायेंगे कि भाषाओं में छूटा हुआ अपूर्ण कथन भविष्य की तत्संबंधी व्याकरणिक चूक नहीं बल्कि जीवनंत भाषिक व्यवहार की प्रयोगशीलता का अभाव है।

### लोक भाषिक परम्पराएँ और उनकी जड़ों पर पुनर्विचार

स्थूल रूप से लोक की संप्रेषणधर्मी परंपरा एक या अन्य कई भाषिक वृत्ति या वृत्तियों से जुड़ी हुई है। इसलिए उसमें सत्यतः सर्वलोक या प्रजातांत्रिक गुणधर्म इस तरह से गुंथा हुआ है कि उसे अलग करना संभव नहीं है। कहने का अर्थ यह है कि आज की भाषाओं में शैलीगत रूप से या भाषिक परिवार के संबंधों के कारण जो अपनापा (अपनापन) है उसका अध्ययन अनेक चमत्कारी दृष्टांत प्रस्तुत कर सकेगा। अतः आधारभूत आवश्यकता है कि हम अद्यतन भाषाओं के परिपूर्ण ज्ञान के लिए अपनी लोक भाषाओं का अध्ययन भी जारी रखें। अन्यथा हम न सिर्फ अपने अतीत से कट जायेंगे अपितु हम अपनी पूर्व विरासत के सर्वकालिक महत्त्व के बोध से भी वंचित हो जायेंगे। एक सुविधा जो भाषाओं के अध्ययन के लिए स्वतः भाषाओं में ही सुलभ है वह है हमारी भाषाओं की मूलाधारी एकता। इस वाक्य पर ध्यान देने की ज़रूरत है। यह समझने की

आवश्यकता है कि यह मूल क्या है? मूलाधारी तत्व क्या है? उसके निकटस्थ विकल्प क्या क्या हैं? आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की मान्यता है कि “चन्द्र का रासो अपने मूल रूप में सुरक्षित नहीं रह सका है।” उन्होंने जिस मूल की ओर संकेत किया है वह मूलाधारी तत्व ही है जो संस्कृत के व्यापक प्रभाव के बावजूद लोक भाषाओं में व्यवहृत था और व्यवहार के कारण ही वह सुरक्षित था। इसे एक अन्य तर्क से भी समझना उचित होगा। भारतीय भाषाओं के विशाल वृक्षों की कल्पना करें ये वृक्ष मरुभूमि, गिरिभूमि, निर्जन भूमि और सदा बहार भूमि में स्वतः महावृक्षों के रूप में फैलते और विकसित होते हैं। हम वृक्षों के विकास के दृश्यमान स्वरूप को तो देखते हैं किंतु उनकी जड़ें कहाँ-कहाँ तक फैली हैं, फैल रही हैं व दूसरी जड़ों के संयोग से अपने मूल रूप को विस्तार दे रही हैं -- वह तो दिखाई नहीं देता किंतु वह आश्चर्यजनक रूप से द्रुत गति से फैलता रहता है। ऐसे अनेक मूलाधारी या जड़वान वृक्ष हैं जो मीलों तक भीतर-ही-भीतर फैले हुए हैं। उनका मूल आधार है संवाद की संप्रेक्षण धर्मिता को सुलभ करना। और इस कृत्य में सशक्त भाषाओं और लोक भाषाओं में द्वंद्व छिड़ आता है। सशक्त या प्रचलित या स्वीकृत भाषाएँ अपने मानकों को लोक भाषाओं पर भी थोपने की चिंता करती हैं। इसे आचार्य द्विवेदी ने दूसरे तर्क से स्पष्ट किया है उनका कथन है, “फिर भी इसके वर्तमान रूप से जो (सत्रहवीं शताब्दी के आसपास का है) अनुमान किया जा सकता है कि इसमें संस्कृत की ओर जाने की प्रणति है।” इस कथन का भलीभाँति विश्लेषण करें तो मूल आधार का अदृश्य जगत भी उतना ही सक्रिय है जितना दृश्य जगत। फलतः जाने-अनजाने मूल की ही मूलभाषाओं में प्रवृत्ति दृश्य और अदृश्य का ही खेल है। आचार्य द्विवेदी ने स्पष्ट किया है कि “तद्भव शब्दों में अनुस्वार लगा कर संस्कृत की छौंक देना तत्कालीन भाषा से नये घुमाव की सूचना देता है।” वस्तुतः लोक भाषाओं की जड़ों में यह कार्य अदृश्य स्तर पर चलता है और भाषिक परिवर्तन के उद्वेगकारी दृश्य रूप में संस्कृत का वर्चस्व स्वीकार कर यह कार्य खुलेआम चलता है। आशय यह है कि मूलाधारी तत्व कभी अदृश्य रूप से भाषिक परिवर्तन का सारथी बनता है तथा कभी-कभी लोक भाषाओं पर नागर भाव के अतिक्रमण का अनुभव बन कर दृश्य रूप से यह सिद्ध करता है कि भारतीय भाषाओं की मूल धारा कभी लुप्त तो कभी दृश्य रूप में अपने प्रभाव को स्पष्ट करती है।

दिलचस्प दृष्टांत यह है कि भारतीय भाषाओं के बीच ही एक अदृश्य, अलिखित, ध्वनिहीन संवाद सदैव सक्रिय रहा है परंतु वह जड़ के स्तर पर ही देखा जा सकता है जहाँ पूर्ण स्वतंत्रता, पूर्णाभिव्यक्ति तथा प्रभाव या असर को पहचानने के स्थानीय उपकरण सार्वजनिक हैं। अर्थात् किसी एक संबोधन में एक साथ आदरभाव, आत्मीयता तथा अर्थ की एक रूपता व उसकी बहुरूपता

एक साथ झलक आती है। यह एक तरह का नैसर्गिक अंतः संबंध है जो बाहर से थोपा हुआ नहीं बल्कि भीतर से ही जन्म लेता है। कहना उचित होगा कि भारतीय भाषाओं की अंतर्व्याप्ति अगोचर रूप से अपना काम करती है और वह एक दूसरे से इस तरह गुंथी हुई है कि उसे अलगाना दुष्कर कार्य है। अवहट्ट की अनेक अन्य विशेषताओं के साथ-साथ आचार्य हजारी प्राद द्विवेदी ने दो प्रकार की अपभ्रंशों का उल्लेख किया और उसका संदर्भ है तत्कालीन काव्यानुशासन। आचार्य जी ने स्पष्ट लिखा कि “हेम चन्द्र ने काव्यानुशासन में दो प्रकार के अपभ्रंशों की चर्चा की है। एक तो शिष्टजन की अपभ्रंश भाषा जिसका व्याकरण स्वयं हेमचन्द्राचार्य ने लिखा था और जो प्रधानरूप से जैन पंडितों के हाथ संवरती रही है। यह बहुत कछ प्राकृत और संस्कृत की भाँति ही शिष्ट भाषा बन गई थी। दूसरी ग्राम्य अपभ्रंश जो संभवतः चलती जबान थी। भाषा शास्त्र की दृष्टि से यह अग्रसर हुई भाषा थी।” इस प्रकरण में महत्त्वपूर्ण संकेत है भाषा का “चलती जबान” का रूप और यह लोक स्वभाव के अनुरूप लोक जीवन की निर्मिति थी। इसका व्यवहृत रूप तो ग्राम्य और नागर दोनों क्षेत्रों में खुलकर होता था क्योंकि यहीं से फिर अनेक रूप मुख्य या शिष्ट भाषा में जुड़ते थे किंतु यह प्रक्रिया अत्यंत गोपनीय भी थी जो भाषा के अंतः लोक की सामग्री होने के कारण कुछ-कुछ लोकस्वभाव के अनुरूप अपना रूप ग्रहण करती थी। भाषा का प्रांजल, व्याकरण सम्यत, उच्चवर्गीय स्वरूप विद्वानों के बीच चर्चा में रहता था और उसका लोक रूप भाषा की जड़ों में धीरे-धीरे पनपता रहता था। प्रयोजन मात्र यह है कि नये अध्येता अपने प्राचीन सृजन से अपरिचित न रह जाँ, उस वृत्ति से अपरिचित न रह जाँ जो भाषाओं को समृद्ध करती है तथा अनेक रूपों में उस एक्य को संरक्षित रखती है जो भारत को संभव बनाता है। अर्थात् भारत अपनी बहुलता में ही पूर्ण भारत है। वह एक ऐसी सांस्कृतिक इकाई है जिसे दूसरे प्रलोभन, दबाव और हिंसात्मक-आक्रामक व्यवहार भी खंडित नहीं कर पाये और बहुलता के महत्त्वपूर्ण पक्ष को भी तोड़ नहीं पाए। इसलिए आज जब हम प्राचीन ग्रंथों की ओर देखते हैं तो उनमें सुरक्षित बहुलता के पक्ष देखते हुए अचरज होता है कि कैसे भिन्न-भिन्न इकाईयों एक समग्र संज्ञा को अपने भाषिक नियमों और आचरण विपरीत होने पर भी स्वीकार किए जाते हैं। रासो विमर्श में आचार्य द्विवेदी की टिप्पणियाँ केवल प्रश्रवाची टिप्पणियाँ नहीं हैं। वे वस्तु के विवेक का आद्य सूत्र पाना चाहते हैं किंतु उसे पाने की कुंजी उसी भारत की लोक सांस्कृतिक इकाई में है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी मुख्य रूप से ‘रासो’ के वर्तमान स्वरूप को देखकर अपना क्षोभ भी व्यक्त करते हैं तथापि उनकी मूल चिंता शुद्ध पाठ में परिवर्तन और प्रक्षिप्तता की है जो मूल की शुद्धता को खंडित करती है। इसलिए भी मूल की शुद्धता का मामला अपनी जगह अभी भी महत्त्वपूर्ण है। आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि “इसका मूल रूप निश्चय ही साहित्य

और भाषा के अध्ययन की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण होगा। परंतु जब तक कोई पुरानी हस्तलिखित प्रति नहीं मिल जाती जब तक उसके विषय में कुछ कहना कठिन ही होगा।” मूल हस्तलिखित प्रति ही वह प्रामाणिक पाठ हो सकता है जो कवि की सृजनात्मक खोज है अन्यथा इतिहास को यथावत दुहराने या पूर्वलिखित अन्य भाषा बोलियों में लिखित कृतियों के अनुवादन को भी बहुत से लोग “नाना पुराण निगमों” की सम्मति कह कर उसे भी सृजनात्मक अन्वेषण स्वीकार करने के लिए अनेक कुतर्क रचते हैं। उन्हें स्वयं इसका बोध नहीं होता कि सृजनेच्छा के तीव्र दबाव से निकलने वाले रसायन का अनुबोध एकदम भिन्न होता है और वह सृजनधर्मी परंपरा का भाग बनकर महत्तम प्रश्नों से टकराने की अद्भुत शक्ति से संचालित होता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की पीड़ा वही है कि ऐसी प्रामाणिक प्रति के अभाव में समूचे काव्य के बारे में कुछ भी कहना कठिन होगा। किंतु यह सत्य है कि ऐसी स्थिति में भाषा और विन्यास संबंधी पक्ष पर टिप्पणियाँ देना भी संभव नहीं है। इससे इतना तो स्पष्ट होता है कि अप्रामाणिक पाठ के कारण न्यायपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त करने कठिन होंगे तथापि भाषिक विचलन और प्रक्षिप्त अंशों के अनुमान के उपरांत सही पाठ के प्रति एक सम्यक दृष्टि विकसित होती ही रहती है। अतः केवल भाषिक आधारों को विवेचित करना संभव है।

और यह स्वतः सिद्ध वक्तव्य है कि शतसटप्मी गाथा जैसी अवधारणाएँ एक ओर परंपरा की पुष्टि करती हैं तो दूसरी ओर अपने भीतर भाषा के अनेक कार्यों की प्रौढता का भी अनुमान कराती हैं। अर्थात् भाषा अपने भीतरी अनुशासन से संप्रेषण के लिए क्या जादुई विधान निर्मित करती है -- यह एक दुर्बोध-सी स्थिति अवश्य है किंतु विद्वानों ने अनेक स्तरों पर भाषिक जटिलताओं को सरल, सहज और नैसर्गिक स्थिति में विकसित होने दिया है। यही कारण है कि हम लोक भाषाओं यथा लोक साहित्य में सहज शब्दों के ग्राम्य उच्चारण की परंपरा को तत्सम् और तदभव कोटि से परे रखकर सार्वजनिक भाषा व्यवहार को मान्यता देते हैं और यह उलटकर फिर उस तर्क का निर्माण करता है जिसमें हम लोक भाषाओं के प्रभाव स्वरूप प्रत्येक भाषा परिवार में लोक प्रचलित भावाधार वाले शब्दों का ज़्यादा प्रयोग देखते हैं। प्रयोग की इस गति के अनेक अन्य कारण भी होंगे परंतु भारतीय भाषाओं में संस्कृत से आई बहुत-सी परंपराएँ इस तरह घुल-मिल गई हैं कि उन्हें विजातीय मानना संभव नहीं है। साधारण से सिद्धांत के रूप में उन्हें भारतीय भाषाओं के अनुशासन के अंतर्गत ही लेना पड़ेगा और स्वीकारना पड़ेगा कि यह प्रवृत्ति ‘भारत’ को भाषिक संदर्भों में भी एक ही आधार से पहचानने की सैद्धांतिक आधारशिला है।

सामान्य निकष के तौर पर हम भारतीय भाषाओं के साम्य और वैषम्य के बिन्दुओं को जब परखेंगे तब स्पष्ट होगा कि साम्य के

कारण तो लोक भाषाओं का दबाव है, किंतु वैषम्य का आधार खोजेंगे तो ज्ञात होगा कि कुछ ऐसी आनुवांशिक विशेषताएँ हैं जो बहुत निजी, गोपनीय कोटि की होते हुए भी अनिवार्य रूप से भूगोल की या निसर्ग की वैज्ञानिक आधारभूमियाँ ही कही जा सकती हैं जिनका स्वतंत्र अस्तित्व उस क्षेत्रीय वैशिष्ट्य की संज्ञा होने के कारण उसे उसके भौगोलिक विन्यास से बिलगया नहीं जा सकता। बहुधा ऐसे वैशिष्ट्य की उपस्थिति भाषिक प्रारूपों में कहावतों या मुहावरों या लोकोक्तियों में अभिव्यक्त होते हैं। भाषिक प्रारूपों के ऐसे आदर्श सार्वभौमिक भी होते हैं किंतु उनकी पहचान के लिए उन्हें निजतापूर्ण संज्ञाओं से ही पुकारा जाता है। यही वह आधारभूमि है जो हमें यह कहने के लिए विवश करती है कि बहुत से पद-विन्यासों के संप्रेषण के लिए हमें संपूर्ण रूप से लोक भाषाओं का ज्ञान अनुशासनात्मक आधार पर प्राप्त होना ही चाहिए। अतः बौद्ध दर्शन की परिव्याप्ति के समूचे इतिहास को पालि के ज्ञान के बिना बोधगम्य नहीं माना जा सकता। लगभग यही स्थिति अन्य भारतीय भाषाओं की है जिनका वैयाकरणिक ढाँचा सर्वमान्य होते हुए भी स्थानिक विशेषताओं से संयुक्त है और इस गुत्थी को सुलझाए बिना हम ‘पाठ’ के सही मंतव्य को तब तक नहीं समझ सकते जब तक हमें भाषिक स्तर पर लक्षित भाषा की आधारभूत रचनात्मकता से परिचय न हो।

लोक कथाओं और लोक साहित्य के अन्य रूपों का गाथात्मक रूप तो संप्रेष्य प्रतीत होता है परंतु उनके गुह्यार्थ का लक्ष्यार्थ को जानने के लिए गाथात्मक आधार ही पर्याप्त नहीं उसके लिए अनिवार्य है कि हम वैज्ञानिक स्तर पर भाषा ज्ञान रखते हों और भाषिक परिवर्तनों की वैज्ञानिक विधि से वाकिफ हों। इसलिए भी गुह्यार्थ या लक्ष्यार्थ स्थानिक ज़रूरतों से प्रभावित होते हैं और भाषा का स्थानिक स्वरूप निजतापूर्वक निर्मित प्रतीकों की रचना करने में सक्षम होते हैं। यही एक प्रमुख कारण है कि हमें दो सहजात रूप से एक दूसरे की पड़ोसी भाषाएँ होने पर भी उनमें स्थानिक या निजतापूर्ण प्रतीकों के इस्तेमाल से एक नये प्रकार की भाषा का संस्कार मिलता है, जिसमें पारंपरिक विन्यास की जगह एक तर्कपूर्ण नया विन्यास उभरता है जो अपनी विशेषताओं के कारण नये प्रकार की संरचना बन कर भाषिक आधारों पर मौलिक-सा प्रतीत होता है। हम ऐसे मौलिक प्रयोगों को एक ही भाषा में पाकर इस निष्कर्ष तो पहुँचते हैं कि भाषा में निजता तथा एकदम अलग प्रकार की विन्यासगत वृत्ति जन्म ले रही है। कहना पड़ेगा कि सभी भाषाओं में स्थानिक प्रभावों के कारण ऐसा होता होगा तथापि यह भी मानना पड़ेगा कि भाषागत विकास तर्क और उस बौद्धिक विमर्श से भी विस्तृत होता है जो आविष्कारों के कारण भाषा के क्षितिजों को विस्तृत करता है। कुछेक ऐसे प्रयत्न भी इससे जुड़े हुए हैं जो गैर भाषायी विद्वानों ने अपनी भाषा के वर्चस्व के हित में भी किए गए

हैं। खासतौर पर वर्तानवी विशेषज्ञों, प्रचारकों और साम्राज्यवादी दृष्टि रखने वालों ने ऐसे ही कार्य किए हैं। ग्रिम बंधुओं ने भाषा चिंतन पर ध्यान केन्द्रित करने के बहाने प्रसिद्ध लोक गाथाओं और कथाओं में ऐसे तत्वों की भरमार को अपने अध्ययन के लिए स्वीकार किया जो भारतीय परिवार की भाषाओं के एक क्षत्र राज्य बर्तानिया के वर्चस्व को स्वीकार करती हों और उन्हीं की भाषा को अपनी भाषाओं से ज़्यादा समृद्ध मानती हो।

### अपनी भाषाओं के इतिहास का महत्व

यहीं से वह नया अध्याय शुरू होता है जो यह भी मन के भीतर उपजाता है कि नहीं अपनी भाषाओं की दुनिया भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। बल्कि कई अर्थों में ज़्यादा महत्वपूर्ण है। इसे जानने के लिए इस प्रकार के नये प्रभाव की भीतरी पर्तों को जानना आवश्यक है और वे भीतरी पर्तें सृजनात्मक साहित्य की विभिन्नता में ही देखी जा सकती हैं। अर्थात् हमारी भाषाओं का सृजनात्मक साहित्य कमाल का साहित्य है। उसमें हम अपनी बीती हुई दुनिया ही नहीं देखते बल्कि उसमें भविष्य की सूचनाओं के भी अनेक संकेत मिलते हैं। इन संकेतों को हम भाषिक संदेशों के रूप में भी विकसित कर सकते हैं व अपनी साहित्यिक परंपराओं में उन्हें अस्तित्वमय देख सकते हैं।

प्रमुख आवश्यकता इस तथ्य में छिपी है कि हमारा पारंपरिक लेखन केवल प्राचीन का ही संरक्षक नहीं है अपितु वह भाषा द्वारा समग्र जीवन के विभिन्न अनुभवों का संग्रहित संचयन भी है और आवश्यकता पड़ने पर हम भाषिक आधार से ही उसे उसकी समग्रता में समझ भी सकते हैं व अपनी भावी आवश्यकताओं के अनुसार भाषा की कलात्मकता में छिपे संकेतों से उनकी नई व्याख्याएँ भी कर सकते हैं अर्थात् भाषाओं का परिज्ञान केवल एकार्थी सत्य नहीं है इसलिए कि कोई भी भाषा मात्र एकार्थी नहीं होती है जैसा हमने सांकेतिक रूप से कहा ही है कि भाषाओं के भीतर हमारा अतीत ही नहीं है अपितु उसकी संरचनात्मक बुनियाद के भीतर वह शक्ति स्वतः उपलब्ध है जो हमें सृजनात्मक उद्यम से बोध के स्तर पर यह जानने के लिए आश्वस्त करती है कि भाषिक ज्ञान या अपनी भाषाओं के अनुराग से अतीत के उन लक्ष्यों के हम करीब होते हैं जिनके सही अर्थ कभी-कभी शाब्दिक संयोजनों की विधि ही ज्ञापित कर डालती है।

इसलिए भारतीय भाषाओं के मूल निर्माता तत्वों की खोज तभी संभव है जब हम अपनी बोलियों, भाषाओं के प्रति सजग हों और उनके अध्ययन को अनुशासित ढंग से विकसित करने की दिशा में सोचें। इसलिए भी कि ज्ञान की अलुप्त धारा का अद्यतन सिरा अपने आप में स्वयं सिद्ध विकास की कड़ी होता है और वह पुराने नियमों के बहाने पुरातन ज्ञान की अद्भुत शक्तियों का संग्रह भी होता है।

एक आधुनिक विद्वान जो पुराज्ञान के विशेषज्ञ हैं यह मानते हैं कि जिस रूप में मनुष्य ने एक अमूर्त चित्रावली से मूर्त हो सकने वाले सूत्रों को खोजने की कोशिश की है उससे यह तो आश्चर्य ही है कि हम किसी न किसी अगले पल में छिपे हुए अतीत के शक्तिमय आशयों का बोध पा ही लेंगे क्योंकि यह काम चुपके से मनुष्य जाति ने भाषाओं के हवाले किया हुआ है। इसीलिए एक विद्वान ने उपनिषद के एक यंत्र का आयुर्विज्ञानीय गुह्य प्रारूप उद्घाटित कर नये औषधि विज्ञान का वातायन खोल डाला है। भविष्य में संभवतः हम अपने अतीत के माध्यम से प्रकृति और मनुष्य के गहरे साहचर्य के कुछ अन्य आधार भी खोज पाएँ जिनसे भविष्य में उपजने वाली कुछ समस्याओं के निदान निकलें। यह काम भाषा ही कर सकती है और भाषा का सर्वोत्तम सृजनात्मक लेखन में व्यक्त होता है और सृजन का सबसे बेहतर स्वरूप सबसे कम पढ़े जाने वाली विद्या कविता अर्थात् गद्यतर पद्य में ही सृजनशील लोग लिखने का उद्यम करते हैं।

भाषा अपने आद्य रूप में ही इकहरी चीज़ नहीं है। वह पहचान के लिए चित्रमय, संकेतमय या प्रतीकमय है और इसी पहचान को संरक्षित करने का काम लिपि में होता है तथापि लिपि जब ध्वनियों में रूपांतरित होती है तो वह लयात्मक या गीतात्मक या छंदात्मक या गेयपदीय इसलिए होती है कि उसे संगीत की शैली में रूपांतरित करना ज़्यादा आसान होता है। हम कह सकते हैं कि भाषा की संगति हमारी एन्द्रिक चेतना के हर पहलू से बनी हुई है। अर्थात् हम एक प्रतीक रूप में अंकित चित्रात्मक या संकेतात्मक या गणितात्मक रूप रेखा को संगत अर्थात् तर्कपूर्ण ढंग से पुनरुत्पादित भी कर सकते हैं व उसे संवादात्मक रूप में ढालकर व्यक्ति से समूह की वस्तु भी बना सकते हैं तथा भाषिक संरचना के रूप में उसे एक स्वतंत्र विचार के रूप में भी प्रस्तुत कर सकते हैं। उसे गेय रूप में भी रूपांतरित किया जा सकता है किंतु इसके लिए भाषिक गेयता के रूप में संरक्षित करना आवश्यक है या पठनीय बना सकते हैं। परंतु यह हम तभी कर सकते हैं जब भाषा का रूप सुनिर्धारित हो और उसके अपने अनुशासन से हम और संप्रेषण से जुड़े दूसरे व्यक्तियों या समूहों या पाठकों का भी अंतर्संबंध समानुरूप हो और बोध के स्तर पर मूल पाठ को संप्रेषित करने में पूर्ण रूप से सक्षम हो। इसी कथन के भीतर यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल पाठ सार्वभौमिक स्तर पर सभी माध्यमों के अनुशासन में समान हो। ऐसा चमत्कार भाषिक आधारों पर रचे गए सभी पाठों को उपलब्ध रहता है अतः यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि अन्य भाषिक रूपांतरणों में वह अन्य भाषिक ज़रूरतों के अनुसार बदलता भी रहता हो। स्पष्ट है जब भाषा और अनुवाद के सिद्धांतों की बात करेंगे तब भी इस बात पर गर्व करेंगे कि हमने अपनी भाषाओं का अपने माध्यमों में मूल पाठ के मूल कथन, मूल प्रस्तुति और मूल आशय को बनाए रखा है। यह खूबी या शक्ति भाषा की है या मूल पाठ की -- इस पर निर्णय थोड़ा



कठिन है और विचलन प्रस्तुत करने वाली दृष्टि मूल पाठ से भी उत्पन्न होती है व भाषिक बुनावट से भी ठीक वैसी ही दृष्टि जो मूल पाठ के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करती है। विवाद यह है कि विचार और भाषा में, दोनों में स्वतंत्र अस्तित्व कायम रखने की क्षमता है यद्यपि विचार के संदर्भ में भाषा बाद में उभरकर आने वाली प्रक्रिया है जो संरक्षण की कार्यविधि का निर्माण करती है किंतु संप्रेषणधर्मी होने के कारण उसका दर्जा किसी अन्य सृजनात्मक कार्य से कम महत्त्व का नहीं है। सारतः यह कहा जा सकता है कि भाषा मनुष्य के क्रिया व्यवहार की मूल भूत वस्तु है यदि वह न हो तो मनुष्य समुदाय एक दूसरे तक जिस रूप में और गति में आज उपस्थित है वैसा कभी न होता। अतः भाषा और भाषाओं के बीच अर्थदायी सेतु का निर्माण एक ऐसा कार्य है जो सतत चलता रहता है।

मूल मंतव्य यही है कि अद्यतन भाषा का रूप भले ही बदल गया हो और हम अपनी बोलियों को पिछड़ा समझने के लिए लाचार हों -- हमें यह तो मानना ही पड़ेगा कि विकास की इस दौड़ में हर बीता हुआ पल आधुनिक और अत्याधुनिक या उत्तर आधुनिक अर्थों में एक कदम पीछे की चीज़ रहेगा। तथापि यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उस पिछड़े कदम के बोध के बिना आधुनिक या अत्याधुनिक या उत्तर आधुनिक से हमारी संगति अर्थपूर्ण इसी आधार पर है कि हम आज जिस रूप में आगे बढ़े हुए हैं वह हमारे पहले कदमों के कारण ही है और इसी अर्थ में जब हम अपनी भाषा का वर्तमान रूप देखते हैं तो वह नई बेलों की तरह अनेक रूपी नव्यता से विकसित होती है और यही फिर प्रश्न उठा है कि हमें अपनी सहजात भाषा बोलियों को उनके वैज्ञानिक आधारों के साथ जानना ही होगा अन्यथा ऐसे जाने बिना हम शास्त्रीय आधार की उपेक्षा तो करते ही हैं हम अपनी मूल भाषाओं की भी उपेक्षा करते हैं। हम भाषा के निसर्ग के प्रति भी अपनी अगंभीरता व्यक्त करते हैं। भाषाओं को पूरी तरह जानने का आशय है कि हम उन वैयाकरणिक आधारभूत सैद्धांतिक आधार शिलाओं से परिचित हो सकें जिनके सहारे भाषागत समृद्धि से जुड़ते हैं। इस कथन के समानांतर यदि हम भाषाई दृष्टांत के परीक्षण का सहारा लें तो जटिलताओं का सामना कम होगा क्योंकि भाषा भी भौतिक नियमों जैसी वाध्यताओं के भीतर ही विकसित होती है।

अतः अनिवार्य रूप से लोक बोलियों और अन्य लोक माध्यमों का भाषागत अध्ययन प्रारंभिक तथा माध्यमिक स्तर तक होना चाहिए जिससे भाषाओं के विविध रूपों का परिचय प्राप्त हो तथा भाषाओं के विकसन का सही दृष्टिकोण भाषा शिक्षक और शिक्षार्थी को बोधगम्य हो सके। इसी से हम उस वैज्ञानिक आधार से भी परिचित हो सकेंगे जो विभिन्न भाषायों में भिन्नता के रूप में

स्थानीय प्रभावों को अंगीकार कर सके और उनके सार्वजनीकरण की प्रक्रिया अपना सके।

### समूचे भारत के परिज्ञान के लिए आवश्यक है लोकभाषाओं का शिक्षण

वस्तुतः लोक भाषाएँ हमारी सामाजिकता की ऐसी अलम्य और अदृश्य सीढियाँ हैं जो जड़ों से जल खींचकर ऊपर ले आती हैं और भाषाओं के स्थानिक स्वरूप को बढ़ने का पर्याप्त अवसर प्रदान करती रहती है। जैसा हमने पहले कहा है कि भाषा इकाई ही एक ऐसी इकाई है जो विकसन के हर पक्ष के आधारभूत रूप में विद्यमान रहती है। विकसन के यांत्रिक मानचित्र में हम उनका परिदर्शन कर सकते हैं। तथापि यह याद रखना होगा कि जब हम किसी भाषा के अध्ययन के वैज्ञानिक सूत्रों की परिगणना करते हैं तो वे केवल किसी एक या एकांतिक भाषा पर अवधान केन्द्रित नहीं करते अपितु वह सार्वजनिक तौर सभी भाषाओं के लिए समान रूप से उपयोगी आधार बन आता है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारत और भारतीय भाषाओं की लोकव्याप्ति के कारणों में महत्तम कारण है भारत। और उस भारत को समझना थोड़ा दुष्कर कार्य है किन्तु एक स्थूल आधार पर कहा जा सका है कि वह भारत जो दृश्यरूप से भौगोलिक इकाई में देखा जा सकता है वह हमारे मंतव्य का लक्ष्य नहीं है परंतु वह अदृश्य भारत जो हमारी भाषाओं में बोलियों की लय से हमारी प्रमुख भाषाओं में विद्यमान है, वह भारत अदृश्य-सा भारत ही भाषाई मूल से बोध तक पहुँचने वाला तत्व है जो हमारे उपरोक्त निष्कर्ष का भी लक्ष्य है, वास्तविकता के उन बिन्दुओं में दृश्यमान होता है जिसे हम भाषाई लय के रूप में लक्षित कर रहे हैं। आशय यह है कि भाषाई लय का अंतर्विधान समझने पर ही उसकी अदृश्य और लौकिक गणितीय धारणा के बारे में स्पष्ट हुआ जा सकता है। यहाँ तो मात्र एक परिकल्पना का आश्रय ले कर हम भारतीय भाषाओं के बारे में यह टिप्पणी कर सकते हैं कि लयात्मक परिकल्पना का यही स्वरूप हमारी भाषाओं के आंतरिक गेयात्मक, उच्चारणगत वैशिष्ट्य में उपलब्ध है। उसे ही फिर खोजना होगा।

भाषिक उच्चारणों का प्रतीक संयोजन अभी किसी ऐसे शोध का लक्ष्य शायद नहीं बना है कि हम कह सकें कि मनुष्य के कंठ-यंत्र की अनुरूपता ही उसके प्रकट होने का कारण हो तथापि आद्य भाषा शास्त्री भाषा को मनुष्य मुख से ही उत्पन्न ध्वनियों का ही प्रतिफल मानते हैं और एक कदम आगे चलकर वे विभिन्न प्रतीकों, चिहनों और उच्चरित ध्वनियों का वर्गीकरण करते हुए एकालापी ध्वनियों को अबाधित रूप से देख कर उन्हें स्वतंत्र कोटि 'स्वरों' के अंतर्गत विभाजित कर लेते हैं तथा दूसरी ध्वनियों को ओष्ठ्य तालव्य, कंठ्य वर्गीकरणों के अंतर्गत स्वीकार करते हैं। प्रश्न उठता है कि फिर वह

लय कहाँ जिसका हम इससे पूर्व परिच्छेद में उल्लेख कर रहे थे। यहाँ दो प्रकरणों में इस कथन के अंतरार्थ को जानना संभव होगा। एक प्रकरण है कि भाषा के जन्मने के और भाषा प्रतीकों के जनमने के दो अलग-अलग पक्ष। ज़रूरी नहीं कि भाषा के जन्मने के कारण केवल कंठयंत्र की अनुरूपता नहीं है अन्यथा कठिन, श्रमसाध्य, स्मृति में बहुत कठिनाई से स्थित रखने वाली ध्वनियों को भाषा निर्माता अपने साथ रखता ही नहीं। भाषा शास्त्री ही बहुतेरी ध्वनियों और शब्द की प्रकृतियों को 'मुख सुख' के आसान तर्क के अंतर्गत श्रेणी बद्ध कर चुके हैं और न ही भाषा प्रतीकों के जन्म को उच्चारणगत अनुरूपताओं से जोड़ सकते हैं परंतु उस एक समान आधार की खोज होते ही कि भाषा संप्रेष्य वस्तु बनते ही संप्रेष्य ध्वनियों में सिमट आती है, एक नये ढंग के भाषा-विमर्श को जन्म देने लगता है। यहाँ यह याद रखना बहुत ज़रूरी है कि उच्चरित ध्वनि भाषा अध्ययन का एक मजबूत आधार है इसीलिए भाषाविद् उच्चरित ध्वनियों का अनेक रूपों में अध्ययन करते हैं तथा विभिन्न प्रकार के भाषा परिवारों का यथाविध वर्गीकरण कर ध्वनियों के नियम निर्धारित कर उस सैद्धांतिक अवधारणा का निर्माण करते हैं जिसे शास्त्र या व्याकरण कहते हैं। व्याकरण का अध्ययन भी एक गणितीय उपक्रम है। बस सिर्फ याद रखने का महत्त्वपूर्ण बिन्दु है कि भाषाशास्त्रियों ने नई भाषाओं में पारंगत होने के लिए लय या संगीतात्मक अन्वय या ध्वन्यात्मक परिसीमा का शैक्षिक अनुशासन भी सृजित किया है जिससे कम समय में भाषा-लोकभाषा या समूची भाषाओं में गति प्राप्त की जा सकती है। भारत के संदर्भ में यह एक नव्य निदान की पीठिका है।

भारतीय भाषाओं के शब्दों की प्रकृति देखें तो हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि अनेक शब्द, वाक्य प्रयोग और परिच्छेद अपनी समानता के कारण विषयों के पर्याप्त निकट दिखाई देते हैं और इससे यह भी बोध होता है कि भारतीय बोलियों और भाषा में संबंध व्यापक आधार पर शब्द से अर्थ प्रतीति के निकटतम साधन है। इस कथन की सत्यता के लिए एक अनुमान का सहारा लेना पड़ेगा कि शब्दोच्चारण में ही अर्थधारणा के संकेत अगर कहीं हैं तो ये सिर्फ भारतीय भाषाओं में हैं। वर्णक्रम को ही आधार बनाएँ तो प्रथमाक्षर के अन्यान्य उच्चारणों का उल्लेख हुआ है। इन पंक्तियों के लेखक ने एक बार पंडित राजाराम शास्त्री का व्याख्यान सुना था जिसका उद्देश्य था प्रथमाक्षर 'अ' के 108 उच्चारणों का स्वरूप। और उसी एक अवधारणा से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि शब्द की एक ध्वन्यात्मक इकाई अपने अनुबोधन का रूप संप्रेष्य अर्थ, संप्रेष्य प्रयोजन और संप्रेष्य ध्वन्यात्मक लय में ही व्यक्त करती है। प्राचीन व्याकरणों में, जो लिखित अर्थात् लिपि संकेतों में लिखित हैं एक सुदीर्घ परंपरा का ही बोध देती है। तथापि इस बोधात्मक रूप का

ज्ञानात्मक अनुशासन कई प्रकरणों में स्पष्ट रूप से उपलब्ध है किंतु उसके कई रूप अदृश्य, अव्याख्यायित और अव्यवस्थित हैं। उनका अध्ययन, और उन पर भाषा चिंतन संबंधी लंबा विमर्श अत्यावश्यक है और यह तभी संभव है जब हम सभी भारतीय भाषाओं को जानने की दिशा में सोचें।

### सांस्कृतिक आधार पर लोक तत्व का जोड़ तत्व के रूप में विस्तार

निर्विवाद निष्कर्ष कि उत्तर भारत की भाषाओं का लोक संसार लोक भाषाओं द्वारा प्रभावित है। परंतु यह भी तथ्य है कि भारत की सभी लोक भाषाएँ अपने क्षेत्र की बहुप्रयुक्त भाषा को सुसंपन्न करते हुए उन्हें संपुष्ट करती हैं और एक दूसरे के बीच एक अदृश्य से विनिमय को बढ़ावा देती रहती हैं। यह विनिमय परस्पर जुड़ने का भी काम करता है और साथ-ही-साथ नये प्रयोगशील कदमों के विस्तार का भी। इस तरह हम पाते हैं कि बहुभाषी भारत की भाषाओं में एक नैसर्गिक-सा जोड़ तत्व है जो बाहर से नहीं दिखाई देता बल्कि बाहर वह ऐसी प्रतीति देता है कि भारत की भाषाओं में दूरी है और इस दूरी का उदाहरण हर भाषा की शब्द संपदा बनती है जो अन्यान्य भाषाओं में अलग-अलग दिखाई देती है। उसके उच्चारणगत स्थानीय शिल्प का भी गहरा प्रभाव यही पड़ता है कि वे एक दूसरे से बहुत दूर हैं। यह भाव दृश्यात्मक आधारों पर पाकर हम न सिर्फ़ अवाक् रह जाते हैं अपितु यह मानने लगते हैं कि दृश्य प्रमाण ही सबसे ज्यादा सच्चे हैं। परंतु यदि हम भारत के संदर्भ में दूसरी ज्ञान की ही शाखाओं को लें तो ऐसी ही दूरी हमें वहाँ भी दिखाई देगी। यही नहीं हमारे अनेकानेक अनुष्ठानों में भी हमें ऐसा भाव मिलेगा कि हमसे 15 किलोमीटर दूर रहने वाला आदमी हम से भिन्न है परंतु 'भाषा' को ही दृष्टांत मानें तो ऐसी असंख्य समानताएँ हैं जो हमारे बीच एक अटूट सूत्र की तरह विद्यमान हैं। और वे अटूट सूत्र हैं जो हमारी भाषाओं को समृद्ध करने में कंजूसी नहीं बरतते। और यही आधार हैं जो हमें सतत प्रेरित करते हैं कि हम दूसरी भाषाओं को भी जानें।

दूसरी भाषाओं को जानने की बौद्धिक ज़रूरत के बहुत से आधार हैं। सदियों से भारतीय जन मुख्यधारा के शीर्षस्थ विचार के बारे में मुख्य भाषा या सुविज्ञ लोगों द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली भाषा में ही संबोधित नहीं था। विचार मुख्य या प्रमुख या बहुत चर्चित या नव्यता युक्त या खण्डन-मण्डन पद्धति के अनुसार नये विचारों से पिछड़ा हुआ साबित करने के लिए भी मुख्यधारा की भाषा का इस्तेमाल सामान्य नागरिक नहीं करते थे वे अपनी मातृ बोली में भी उसका चर्चण या कहें 'विमर्श' कर अपनी नव्य खोजों की प्रतियों का उल्लेख कर समूचे भारत में विमर्श की अद्भुत परंपरा कर अनुगमन करते थे तथा समय आने पर अपनी क्षेत्रीय भाषाओं में उसका विमर्शात्मक विवेचन प्रस्तुत करते थे। कहा जा सकता है कि

इस प्रकार के विमर्श में तत्काल संप्रेषण उतना महत्ववान नहीं था। कभी-कभी एक ही मूल विचार को ध्वस्त करने की कोशिश में सदियों भी लग जाती थीं किंतु सदियों की समय-सीमा में ऐसा विमर्श तात्कालिक और अर्थवान 'विमर्श' की भाँति ही स्वीकार किया जाता था और तब के बौद्धिक जगत में हलचल मचा कर अपने अवसान की पीड़ा को नये विमर्शों के तर्कों में जीवित रख कर परंपरा का ऐतिहासिक अनुभावन देता रहता था। देखा जाए तो भाषा का सबसे बड़ा चमत्कार यही था कि वह अपनी प्रवृत्तियों में भूत-भविष्य वर्तमान को उपस्थित कर अत्याधुनिक कंप्यूटरों की तरह सूचनाओं के मर्म को प्रस्तुत कर बौद्धिक प्रचलन कायम रखते हुए उन संभावनाओं की ओर भी इंगित करता था जिनकी हमें आने वाले कल में ज़रूरत पड़ती थी। वह एकांगी या टुकड़े टुकड़ों में मिलने वाली जानकारियों के कल पुर्जों की उपलब्धि नहीं थी अपितु भाषिक अनुशासन में संप्रेषण की पूर्णता देने वाली विधि थी और भी मुख्यधारा की भाषा में अन्य धाराओं के स्वतः प्रवेश की विधि और इसी आधार पर निष्कर्ष हासिल होता है कि अनुशासन के रूप में भारतीय भाषाओं की शिक्षा का द्वार हमेशा खुला रहना चाहिए। यह एकदम अलग प्रश्न है कि हम भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कौन से तरीके उपयोग में लाएँ। भाषाविदों ने भाषा सीखने के अनेक विधानों पर विमर्श किया है उसमें से एक विधान साहित्य के जरिये, खासतौर से कविता के जरिए, भाषा सीखने के विधान पर भी शास्त्रीय चर्चाएँ की हैं।

अतः भारतीय भाषाओं के अध्ययन की परंपरा, उच्च शिक्षा के लिए ज़रूरी आधार है। उसे जारी रखना अनिवार्य बनाना होगा। समस्या सिर्फ़ यह है कि हमारे देश में भारतीय भाषाओं को सीखने-सिखाने की दिशा में कोई काम ही नहीं हुआ है। भारतीय साहित्य के आद्य ग्रंथों को अगर लें तो वे सभी भाषाओं, बोलियों में मान्य हैं। याद रहे भारतीय साहित्य के आद्य ग्रंथ आज भी संस्कृत भाषा में उपलब्ध हैं और हमारी शिक्षा व्यवस्था में उन्हें संस्कृत ग्रंथ मानने की ही परंपरा है जब कि वे संस्कृत में ज़रूर लिखे गए हैं किन्तु अन्य अनेक भारतीय भाषाओं में उनकी पुनर्रचना हुई है। यह पुनर्रचना भारतीय भाषाओं का प्राचीन अभ्यास है। यह अभ्यास बोलियों तक जाता है। इन पंक्तियों के लेखक ने ठेठ बालपन में गढ़वाली रामायण और गढ़वाली दुर्गा सप्तशती के नाम सुने थे और अक्षर ज्ञान प्राप्त करने के बाद छोटी-छोटी पुस्तिकाओं में अनेक बहुश्रुत ग्रंथों के गढ़वाली रूपांतरण भी देखे थे। बाद में श्रीमती चंदोला के अनेक अन्य अनुवाद भी देखने में आए। यही नहीं मैथिली भाषा में इन पंक्तियों के लेखक ने एक विद्वान के संग्रह में ऐसी अनेक कृतियों के भाषांतर देखे हैं जो अचरज में डालते हैं। कहने का अर्थ यह है कि भारतीय भाषाओं और बोलियों में लिखित या मौखिक रूप में आई ग्रंथों के भाषांतर की यह पद्धति जिसे पुनर्रचना ही

कहना संगत जान पड़ता है नव सृजन की तरह ही प्रतीत होते हैं तथापि उनका व्याख्यात्मक स्वरूप समय, स्थान और अन्य प्रभावों से प्रभावित रहता है।

विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में बीसवीं और इक्कीसवीं शताब्दी में विद्वानों के विचार-विमर्श के उपरांत अनेक परिवर्तन हुए हैं। उन्हें प्रभावित करने वाली मुख्य शक्ति राजनैतिक शक्ति रही है। दुःखद प्रसंग यह है कि हर नई सरकार ने अपनी नई शिक्षा नीति थोपने के आशय से प्रस्तावित की है और शिक्षा के क्षेत्र में भी सक्रिय राजनेताओं ने उसका स्वागत किया है। सूचनाओं के प्रसंग में इतना तो देख ही सकते हैं कि शिक्षा नीति में दखल राजनैतिक पक्ष का ज़्यादा रहा है और यह विद्यालयों या विश्वविद्यालयों के काम में हस्तक्षेप-सा है। पाँच वर्षों के लिए चुने जाकर शिक्षा में तात्कालिक ज़रूरतों की दुहाई देकर की गई छेड़छाड़ अपराध से कम नहीं। होना तो यह चाहिए था कि कोई स्थायी आयोग शिक्षा के लिए निर्मित कर शिक्षा संबंधी ज़रूरतों की प्राथमिकताएँ तय करता और प्रायोगिक तौर पर उनका अनुपालन कर अनुवर्ती कार्रवाई के लिए विमर्श करता। इस तरह के स्थायी विचार की जगह अधिकचरे राजनीतिज्ञों ने अपने दबाव से शिक्षा संबंधी जो परिवर्तन किए हैं उनके चलते गंभीर अध्ययन और शोध के लिए जगह नहीं बन पाई है। अभी भी समय है कि इस संबंध में कोई कारगर पहल हो। हम अपने आपको सिर्फ़ भाषा तक ही केन्द्रित रखेंगे क्योंकि शिक्षा का क्षेत्र बहुत विशद है। भाषा परिज्ञान और अध्ययन के लिए सबसे बड़ी ज़रूरत उन बुनियादी बातों को समझने की है जिनसे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि संप्रेषण और संवाद बिना भाषा के संभव नहीं है। भाषा को संप्रेषण एवं संवादानुकूल बनाने वाली प्रक्रिया क्योंकि एक जटिल प्रक्रिया है, उसे आसानी से बोध के स्तर पर लाना भी थोड़ा कठिन काम है तथापि हमारी मातृ बोलियाँ एक पहला सोपान या पहला दरवाज़ा है जो संप्रेषण के प्रकाश से हमें अवगत कराता है। अतः मातृबोलियों को इतना मज़बूत होना चाहिए कि वे देसी या विदेशी भाषिक संरचनाओं की जटिलता को बोधगम्य बनाने की युक्ति से हमें परिचित कराये। भाषा या इस अर्थ में शिक्षार्थ प्रस्तुत कोई भी इकाई बालपन को आकर्षित कर उसके अवधारणात्मक परिवेश से अंतरंगता स्थापित करे। असल बात है उस नई अवधारणा से हमारा अंतरंग संबंध कैसे स्थापित हो। हमने पहले ही स्वीकार कर लिया है कि भाषा या भाषाओं का अपनी मातृ बोलियों द्वारा ज्ञान देना एक जटिल कार्य है। यह छोटी उम्र के शिक्षार्थियों के लिए जितना कठिन है अपेक्षाकृत बड़ी उम्र के शिक्षार्थियों के लिए भी जटिल है किन्तु नई भाषा वैज्ञानिक तकनीकों ने इसे रुचिकर, आकर्षक और गुण संपन्न बनाने की दिशा में पहल की है।

इसी पहल का परिणाम है कि अब साहित्य के द्वारा भाषा शिक्षण की तकनीकों का विकास किया जा रहा है। केवल दृष्टांत के लिए किसी एक कथा, लघु या बड़ी कथा के सहारे भाषा परिज्ञान और जटिल वैयाकरणिक सूचनाओं को स्मृति में ठहराना दुष्कर-सा काम ज़रूर है परंतु यदि कहानी रोचक है तो अपनी रोचकता या विस्मय या विस्मयता के सूत्र वह स्वयं अपने में छिपाये रही है जिन्हें कोई लोकप्रिय-सा दृष्टांत अनावृत कर हमेशा के लिए हमारी स्मृति का हिस्सा बना डालता है। बचपन में सीखी हुई भाषिक युक्तियाँ सदैव के लिए स्मृति का हिस्सा बन जाती हैं। कथाओं और कविताओं में वह चामत्कारिक शक्ति है जो कभी-कभी अन्य साहचर्यों से उसे अनावृत किया जा सकता है। आशय यह है कि वर्तमान पद्धतियों में किसी प्राचीन पद्धति को जोड़ना क्या संगत होगा ? क्योंकि प्राचीन भाषा परिज्ञान में पूर्व रचित गाथा काव्यों के उदाहरणों का पर्याप्त उपयोग किया जाता था। विशेष रूप से ऐसी काव्योक्तियाँ शीर्ष दृष्टांत बनती थीं जो किसी सैद्धांतिक मसविदे का आधार बनें। प्राचीन शिक्षा पद्धति का ऐसा व्यावहारिक स्वरूप भले ही आज उपलब्ध न हो फिर भी नये विद्वान और भाषा शास्त्री इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'भाषा ज्ञान' के लिए उत्कृष्ट सृजन से अधिक लाभकारी उपकरण कहीं अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

चर्चित प्रस्ताव की विवेचना की आवश्यकता नहीं। वह स्वयं सिद्ध युक्ति है। केवल इतना जानना आवश्यक है कि उत्कृष्ट सृजन और आधुनिक पाठ्यक्रमों में भरे गए सिफारिशी पाठों की तुलना से भी भाषा परिज्ञान की शुरुआत की जा सकती है क्योंकि तब कमजोर उदाहरणों के लिए अन्यत्र नहीं जाना पड़ेगा। सरकारी स्तर पर निर्मित पुस्तकों से दोयम कोटि की सामग्री आसानी से उपलब्ध हो जाती है। इस कथन पर विचार करेंगे तो एक सामान्य पाठक और जिज्ञासु पाठक के बीच का अंतर भी बोधगत हो जाता है। गंतव्य मात्र यह है कि भाषा परिज्ञान देने के लिए उत्कृष्ट सामग्री की दरकार हमेशा रहेगी और वह भी हमेशा, हर भाषा में हर युग में हमारी छोटी या बड़ी भाषाओं में खोज करने के उपरान्त हस्तगत हो ही जाता है।

हमने आरंभ में हिंदी के वर्तमान स्वरूप को अतीत की अन्यान्य इकाइयों की निर्मिति माना था। इसी युक्ति के सहारे स्वीकार करना पड़ेगा कि हिंदी का वर्तमान स्वरूप अपने पिछले स्वरूप से एकदम अलग नहीं है। विकास के परिमाणों से यह तो आसानी से माना जा सकता है कि हम पिछली सदी के भाषिक श्रेय से आगे की ओर बढ़े हैं तथापि यह भी देखना पड़ेगा कि हमारा ज्ञान कोश किस दिशा की ओर उन्मुख है। प्रथम दिशा संभवतः संप्रेषण की पूर्णता को लेकर ही अन्वेषित की जा सकती है और यह कहना पुनः उचित और आसान ही होगा कि हमारे शब्द कोशों में नये शब्दों की आमद आश्चर्य में डालने वाली है। आने वाले शब्द एक दूसरी दिशा की ओर इशारा

करते हैं कि हमने अपने लोक जीवन के बहुत से शब्दों को परिवर्तित रूप में स्वीकार किया है अर्थ हुआ कि हम अभी भी अपनी लोक भाषाओं से जुड़े हुए हैं। यह जुड़ाव कई रूपों में परिलक्षित होता है। जैसा हम कह चुके हैं नये शब्द भी निर्मित हुए हैं या आए हैं। शब्दों के आगम से जुड़ी हुई अनेक विधियाँ हैं परंपराएँ हैं एक निर्माण या नये शब्दों के बनाने की प्रक्रिया है दूसरे शब्द भाषा और भाषाओं के अंतर्मिलन से प्रवेश कर अर्थों का नया संसार प्रदर्शित कर जाते हैं।

हिंदी में दोनों प्रक्रियाएँ आश्चर्य में डालने वाली हैं। इनका अलग से अध्ययन किया जाना चाहिए। यह विद्वानों का काम है किंतु इस दिशा में कोई सकात्मक पहल नहीं हुई है। आशा करनी चाहिए कि हमारे विश्वविद्यालय डिग्री लक्षित शोध की जगह स्वतंत्र शोध से बढ़ावा दे और उसमें कुछ विद्वान अपना कार्य कर फिर उसकी रपट विश्वभर के विद्वानों के समक्ष रखें तो भाषा के नये रूप को जो वैश्विक स्तर पर निर्माण हो रहा है उसकी स्थिति से सभी राष्ट्रीय इकाइयाँ लाभान्वित होंगी। भाषाओं के तुलनात्मक परीक्षण की वैज्ञानिक प्रक्रिया अनिवार्य है। इससे नये निष्कर्ष आयेंगे और वे दिशा निर्देश के बिन्दु बन कर अपनी भारतीय भाषाओं की क्षमता का आकलन करेंगे। इसमें संदेह नहीं कि तेज़ी से विश्व भाषाओं के बीच प्रजातांत्रिक ढंग से टकराहट हो रही है और उसकी टकराहट से ध्वनित हो ही रहा है कि अंग्रेज़ी पूर्ण परिपक्व, पूर्ण वैज्ञानिक भाषा नहीं है। हिंदी उनमें सर्वाधिक स्वीकृत भाषा है। इस स्वीकृति के कुछ दृश्य तथा कुछ अदृश्य कारण हैं। कुछ कारण भारत के विश्व मंच से जुड़ाव के भी हैं। उनका स्वतंत्र रूप से बौद्धिक जगत में स्वागत हो ही रहा है। साथ-ही-साथ एक बड़ी भाषा के रूप में हिंदी की स्थिति का स्वतंत्र आकलन भी बौद्धिक क्षेत्रों में स्वतः प्रदर्शित हो रहा है।

### भारत: एशियाई चेतना की प्रमुख धारा

एशिया में हिंदी की स्थिति अंग्रेज़ी के मुकाबले में ज़्यादा परिपक्व है। एशियाई लोग बोलचाल की भाषा के रूप में हिंदी के महत्त्व को जानते हैं। नये माध्यमों में हिंदी की स्वीकृति स्वाभाविक तौर पर दिखाई ही देती है। एक बात तो साफ़ है कि अंग्रेज़ी के लिए भारत में दबाव नौकरशाहों और कार्पोरेट घरानों द्वारा बनाया गया है। वे विश्व व्यापार के लिए काम चलाऊँ अंग्रेज़ी का भी समर्थन करते हैं किंतु सांस्कृतिक आधार पर बोलचाल की भाषा का आधिपत्य है और उसे अखिल एशियाई रूप देने का काम भारतीय फ़िल्में करती हैं। अचरज नहीं होना चाहिए कि व्यापक स्तर पर एशिया में भारतीय संगीत, भारतीय फ़िल्मों और भारतीय पत्र-पत्रिकाओं की खपत है। भाषागत लोकप्रियता के अन्य आधार भी अन्वेषित किए जा सकते हैं परंतु जो निर्विवाद रूप से सच है वह दक्षिण एशिया में भारतीय भाषाओं की स्वीकृति का आदर्श है जो राजनैतिक और आर्थिक प्रतिकूलताओं के बावजूद अस्तित्व में है। यह एक ऐसा तथ्यात्मक आधार है जिसे धार्मिक और आर्थिक विवशताएँ भी

ध्वस्त नहीं कर पा रही हैं। यह भी एक विचित्र तथ्य है कि एशिया में धार्मिक असहिष्णुता अपने चरम पर है किंतु उसके अस्तित्वमान रूप में भारतीय फिल्मों, भारतीय संगीत और भारतीय युवाओं के आदर्शों के प्रति विमुखता लक्षित नहीं होती। स्पष्ट है कि कुछ अन्य नैसर्गिक दबाव ऐसे हैं जो तमाम प्रतिरोधों का मुकाबला करने में समर्थ हैं। वस्तुतः पूरे एशिया में पश्चिम के ज़बर्दस्त प्रभावों के बावजूद एशियाई लोक में जो भारत बसा हुआ है वह एक स्थायी कीर्तिमान जैसा है। यह एशियाई लोक में जो वास्तव में एशिया की अपनी छोटी-छोटी लोक इकाईयों के स्थानीय प्रभावों को जैसे ही स्वीकार करता है वह भारत में लोक इकाईयों के आत्मीय प्रभाव का हिस्सा बन कर एशिया के लोक स्वभाव में रूपांतरित हो जाता है। यह एक ऐसा अविभाज्य तत्व है जो भाषिक उपस्थितियों में अपने लोक और अपने स्थानिक वैशिष्ट्य को बनाए रखता है। इसलिए एक वृहत्तर भारत जो दिव्यता का पोषक, प्राच्य ज्ञान का संरक्षक, मानसून की गतिविधियों में फैला हुआ, बौद्ध स्वभाव में निष्णात, धार्मिक लोकतंत्र का समर्थक और मानवीय मूल्यों की गहरी उपस्थिति का अनुभोक्ता है जो अन्यान्य रूपों में एशिया में फैला हुआ है। उसे समूचे भारत के रूप में ग्रहण करना आसान है। वह समूचापन विभिन्न परंपराओं और आदर्शों में विद्यमान है। वह राजनैतिक परिसीमाओं को संक्रमित कर फिर एक नये भारत के रूप में एशिया में विद्यमान है।

अतः इस समग्र प्रकरण को एक बड़ी भाषा के संदर्भ में देखा जाए तो वह ज़्यादा उचित होगा। इसकी वकालत का हमारा लक्ष्य सीमित है कि हम विश्व भर में भाषाओं के विलोप, उनके अप्रयोग के कारण उनकी दयनीय स्थिति पर विचार करते हुए यह स्वीकार कर लेते हैं कि कुछ बोलियों को धीरे-धीरे विलुप्त होना ही पड़ेगा क्योंकि उनके प्रयोक्ता धीरे-धीरे कम होते होते भौगोलिक क्षेत्रों में प्रयोक्ताओं की अनुपस्थिति के कारण बोलियों के व्यवहृत स्वरूप को विलुप्त होते देख रहे हैं। यह दयनीय और मर्मस्पर्शी स्थिति हिमालय क्षेत्र में अनेक बोलियों को दुर्लभ खाते में डालने की विवशता झेलते हुए देख सकते हैं।

हमारा प्रयोजन एशिया में एशियाई भाषाओं के प्रचलन से है और एक सुखकारी सूचना है कि हिंदी की भारतीय स्थिति के अतिरिक्त एशियाई देशों में एशियाई भाषाओं के प्रति जो ममत्व है उसने क्षेत्रीय भाषाओं की स्थिति पर्याप्त दृढ़ की हुई है। उर्दू, नेपाली, बांग्ला में तीनों भाषाएँ पाकिस्तान, बांग्लादेश, नेपाल में राज्यीय स्तर पर सर्वोच्च हैं। भारत में इन भाषाओं के बहुप्रयोग के कारण इनका निर्बाध प्रयोग, विकास और इनके साहित्य की धाराओं का महत्त्व भारत में भी व्यापक रूप से देखा जा सकता है बल्कि भारतीय भाषाओं की तरह उनके साहित्य की जन स्वीकृति भारत

में भारतीय भाषाओं के प्रति ममत्व के कारण विकसित है तथापि तमिल, मलयालम, मराठी, गुजराती का प्रयोग मलय क्षेत्रों यथा सिंगापुर, मलेशिया, दक्षिण अफ्रीका, मारीशस में प्रयोक्ताओं की उपस्थिति के कारण साहित्यिक-सांस्कृतिक-तकनीकी स्तर पर निर्बाध गति से हो रहा है। यह एक तरह से भारतीय भाषाओं के भारत से बाहर प्रयोग की सूचना के तौर पर भी लिया जा सकता है तथा एशिया में एशियाई भाषाओं के साथ भारतीय भाषाओं के प्रयोग की स्वतंत्रता को लेकर एशियाई स्वभाव में सह-अस्तित्व जैसे मूल्य के प्रति विश्वास के रूप में भी देखा जा सकता है तथापि भारत की बड़ी भाषा हिंदी के प्रति सरकारी दुलमुल रवैये के कारण एशियाई राज्यों में हिंदी की स्वीकृति के प्रति थोड़ी-सी बाधा-सी दिखाई देती है। यद्यपि बोलचाल की भाषा के रूप में एशियाई बाज़ारों यहाँ तक कि दुबई जैसे व्यापारिक केन्द्र में हम हिंदी, हिन्दुस्तानी, उर्दू का खुलकर प्रयोग देखते हैं ठीक यही स्थिति मलेशिया, सिंगापुर और वर्मा में है जहाँ व्यापारिक प्रयोजन के लिए बोलचाल की भाषा का प्रयोग होता है।

भारत सरकार को ध्यान देना होगा कि भारतीय भाषाओं की स्वीकृति को दूसरे आयामों पर भी सक्रियता से राज्यीय नीतियों का अनुपालन हो। संघ की सर्वाधिक प्रयुक्त राजभाषा की उपेक्षा उचित कदम नहीं है बल्कि यह एक आपराधिक षडयंत्र का हिस्सा दीखने लगता है जिसे राज्यीय स्तर पर प्रोत्साहित किया जाता है। अंग्रेज़ी के प्रति हमारे नौकरशाहों का ममत्व इसी किस्म का है वे राजनेताओं की चापलूसी के लिए तो हिंदी स्वीकार कर लेंगे अन्यथा सरकारी कार्यों के लिए धड़ल्ले से अंग्रेज़ी के प्रयोग में न हिचकियाएँगे। सरकारी स्तर पर एक नये भाषा आयोग का अस्तित्व अभी तक स्पष्ट नहीं है। यदि राजभाषा या हिंदी भाषा के प्रश्न पर पुनर्विचार हो सके तो एशिया में भारतीय भाषाओं की स्वीकृति के मुद्दे पर यह पहल होगी और भारत में राजकीय स्तर पर फैली हुई काहिली का भी पर्दाफाश होगा। 'बाबूडम' की प्रशासकीय तिकड़मों की भी पोल खुलेगी क्योंकि जो अकादमिक स्तर राजभाषा के अनुप्रयोग के लिए इस्तेमाल किया गया उसमें कालदोष हैं। वह आधुनिक यंत्र के मुकाबले एक पिछड़ा हुआ प्रयोग है। इस प्रयोग से हिंदी भी पिछड़ी हुई भाषा घोषित हो जाती है। बदली हुई परिस्थितियों में 'नई हिंदी' की जीवनी शक्ति को पहचानने की ताकत का इस्तेमाल ही नहीं हुआ है। फलतः हिंदी आरंभ करने के सरकारी मंसूबे आधा रास्ते में दम तोड़ देते हैं।

एशिया में खुली, उदार हिंदी की तो रफ्तार लोक भाषाओं के चलते हिंदी की अकूत शक्ति, अकूत लोकप्रियता को सिद्ध करते चलती है उसका प्रयोग तो हिंदी में किया ही नहीं गया। सबसे पहले तो राजभाषा के पंडितों से पूछा जाना चाहिए कि उन्होंने इतने वर्षों

तक हिंदी न चलने, कार्यालयों में उसके प्रयोग की वर्जना के अंग्रेजी तौर तरीकों की पोल क्यों नहीं खोली ? इसके साथ ही हर बरस-दो-बरस बाद सामान्य-सी समीक्षा के बहाने भी प्रगति का आकलन किया जा सकता है किंतु यह काम नहीं हो सका। फल यह है कि आज सरकारी दफ्तरों में हिंदी के काम की कागज़ी बढ़ोत्तरी के आँकड़े तो बड़ा-चढ़ा कर बताए जाते हैं किंतु असलियत कुछ और ही है।

असलियत जानने के लिए राजभाषा विभाग के वार्षिक विवरणों की समीक्षा अनिवार्य है। इसलिए कि राजभाषा के लक्ष्यों की पड़ताल राजभाषा विभाग के ही जिम्मे है। हम एशिया में हिंदी के पिछड़ेपन की तोहमत भी आसानी से राजभाषा विभाग के माथे पर लगा सकते हैं क्योंकि केन्द्र सरकार के जो भी कार्यालय एशिया में हैं उनमें राजभाषा की प्रगति का कोई लेखा-जोखा नहीं किया गया।

हिंदी भारत की सर्वाधिक प्रयोग में आने वाली विश्वभाषा भी है। चीनी के बाद जनसंख्या के हिसाब से वही सही अर्थों में दूसरी भाषा मानी जाएगी तथापि अंग्रेज़ी के समर्थक राजनैयिक आधारों पर भाषाई प्रजातंत्रों को विकृत करने वाले तबके पास विचित्र प्रकार के तर्क भी हैं। ऐसे कुतर्कों की उपेक्षा करना ही बेहतर है। देखना यह होगा कि एशिया में भी चीनी के बाद बोलचाल की हिंदी ही वह दूसरी भाषा है जो उर्दू, हिन्दुस्तानी, बांग्ला, नेपाली और अंग्रेज़ी से बहुत आगे अन्यान्य क्षेत्रों में बहु उद्देश्यीय ढंग से प्रभुत्व की जाती है। आप अखबारों की प्रसार संख्या को ही यदि एक इकाई मान लें तो आप पायेंगे कि समूचे एशिया में वह चीनी के बाद दूसरे नम्बर पर स्वाभाविक रूप से आ जाती है क्योंकि तेलुगु, बांग्ला, उर्दू की सम्मिलित संख्या से भी वह बड़ी है तथा उसका लोक क्षेत्र भी फैला हुआ है। इस दृष्टि से वह चीनी के लोक क्षेत्र की तरह है जो अन्यान्य छोटी-मोटी बोलचाल की लोक भाषाओं में सृजित होकर हिंदी में वैश्विक स्वीकृति के रूप में आगे आ जाती है।

भाषाओं के संसार की उपरोक्त पड़ताल का मुख्य लक्ष्य यह है कि एशिया की भाषाओं पर यूरोपीय भाषाओं का एक अदृश्य-सा दबाव है और वह दबाव आधुनिक यूरोप खुले रूप में प्रकट करता है यह कहते हुए कि एशिया की भाषाएँ प्राचीनता से जुड़ी होने के कारण पिछड़ी हुई हैं। पूरा यूरोप अपने भवनों, प्राचीन इमारतों, प्राचीन इमारतों में खुदी लिखी या चित्रित की हुई कुछ सौ सालों की कृतियों को मानवजाति की विरासत के रूप में प्रस्तुत कर गौरवान्वित होता है किंतु उसे अंगकोर वाट या चीनी बौद्ध बिहार या भारतीय प्राचीन मंदिर पिछड़े हुए लगते हैं। यूनेस्को के दल को चिरोरी कर हम अपनी कुछ चीज़ों को 'हेरिटेज' सूची में डालकर प्रयुक्त होते हैं कि हमारे पास भी मनुष्य जाति की विरासत के कुछ नमूने हैं किंतु हम सौ दो सौ लोगों द्वारा आज भी प्रयुक्त अपनी

हज़ारों सालों से चली आ रही भाषिक परंपराओं को मनुष्य जाति की विलक्षण विरासत मानने में कोताही बरतते हैं बल्कि उन्हें यूरोपीय मानकों की दृष्टि से उच्च नहीं मानते। झगड़ा यहीं से शुरू होता है कि हमें अब यूरोप और अमेरिका की उतनी परवाह नहीं करनी चाहिए क्योंकि उनकी अपनी भाषा का पदान्वयन किसी वैज्ञानिक सैद्धांतिक सूत्र का प्रतिफल नहीं है। यह कहना ज़्यादा उपयुक्त होगा कि वे सब वैज्ञानिक सैद्धांतिक आधारों की बजाय वर्चस्व की कामना से प्रेरित हैं।

इस प्रसंग में लंबी बहसे हों तभी हम उचित निष्कर्ष पा सकते हैं तथापि इसी प्रसंग में यह आवश्यक है कि हम एशियाई भाषाओं के संरक्षण, उनके विकास के अकादमिक कार्यों के प्रति सजग हो जाएँ।

इस लंबे निबंध का मुख्य लक्ष्य यही है और इससे फूटने वाली धाराओं में प्रमुख धारा है कि एशिया के प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रमों में अपनी भाषाओं के साथ-साथ अपनी लोक भाषाओं की शिक्षा भी स्तरानुरूप दी जाए ताकि एशिया के लोक जीवन में रसी-बसी, अकृत्रिम-नैसर्गिक भाषिक संरचनाएँ हमारी मुख्य भाषा को पुष्ट करती हुई, हमारे सांस्कृतिक आधारों को हमारे लिए सुलभ बनाते हुए एशियाई भाषाओं के बीच प्राचीन संबंधों का पुनर्नवीकरण करती रहें। इसके लिए दक्षेस या ऐसी ही किसी संस्था के द्वारा लोक बोलियों का अनुप्रयोग और संरक्षण अकादमिक स्तर पर विकसित हो -- यह प्रयत्न एक बड़े राष्ट्र के रूप में भारत को ही पहल करनी पड़ेगी।

अभी तक भारतीय विद्यार्थियों के बीच एशिया अध्ययन संबंधी कोई रूपरेखा नहीं है। आरंभिक स्तर पर भूगोल और इतिहास के अंग्रेज़ी मानकों के मुताबिक सूचनाएँ जिस रूप में भी उपलब्ध हैं वे ही वितरित की जाती हैं। आश्चर्य है कि आधुनिक एशिया की जानकारी 'ना' के बराबर है। अतः अनिवार्य है कि प्राथमिक स्तर पर ही एशिया की वैज्ञानिक सूचनाएँ उपलब्ध हों ताकि माध्यमिक और उच्च माध्यमिक स्तर पर उनका उपयोग उच्च शिक्षा के संदर्भ में भिन्न हो। यह कहने का मुख्य लक्ष्य यही है कि एशिया अध्ययन इतिहास की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं है। वरन वह आधुनिक और उत्तर आधुनिक ज़रूरतों के संदर्भ में भी बहुत आवश्यक है।

और एशिया के समूचे अध्ययन का मुख्य मेरूदण्ड एशिया की भाषाओं का अध्ययन है जो आरंभ से ही शिक्षा के सभी पाठ्यक्रमों में जारी रहना अनिवार्य है। इसी आलोक में एशियाई भाषाओं का विधिवत् अध्ययन तथा एशियाई व भारतीय लोक भाषाओं का शैक्षणिक पाठ्यक्रम इस गति से या पद्धति से निर्मित किया जाए कि उससे हम अन्य भाषा परिवारों के बारे में जानकारी एकत्रित कर सकें। और उसे बहु-उपयोगी बताते हुए एशियाई भाषाओं की

‘संपन्नता’ का अनुभव करें तथा उन बिन्दुओं को जन सुलभ बना सकें जो एशिया की भाषाओं की समरूपता के निर्देशक तत्व हैं।

मुख्य लक्ष्य है उस संकेत को पकड़ना जिसे आधुनिक समाजशास्त्री और अर्थशास्त्री पहचानते हैं और उसके अनुरूप अपनी भावी योजनाओं के परिगठन पर गंभीर विमर्श में हैं। प्रतीक्षा मात्र यह है कि भाषाओं के जटिल और संवेदनशील मामले को किस रूप में प्रस्तुत किया जाए। ‘भाषिक’ संसार में नये माध्यमों के चलन ने यह काम आसान भी कर दिया है। वे नित नये ‘प्रकारों’ का अन्वेषण कर क्षेत्रीय भाषाओं के अनुप्रयोग की ओर निकल पड़े हैं। इसीलिए क्षेत्रीय भाषाओं में प्रस्तुतिकरण की होड़-सी मची हुई है।

एशिया विश्व का सबसे बड़ा महाद्वीप है। क्षेत्रफल के लिहाज से भी और जनसंख्या के लिहाज से भी। यदि हम विविधताओं की बात करें तो वैविध्य में भी वह अनुपम है। विश्व की अद्भुत विरासत के रूप में भी वह अतुलनीय है। विचित्र बात यह भी है कि वह उत्तरी गोलार्ध में भी अस्तित्ववान है और श्रीलंका, मालदीव, सिंगापुर, जावा सुमात्रा के कारण दक्षिणी गोलार्ध में भी अस्तित्ववान है। हम उसे एक ओर यूरोप से जुड़ा देखते हैं तो दूसरी ओर जापान से भी जुड़ा पाते हैं वह एलास्का के कारण उत्तरी अमेरिका के पूर्व में भी अस्तित्ववान है। विश्व के प्राचीन धर्मों का वह घर है और नये धार्मिक विमर्शों की भी महत्त्वपूर्ण पीठिका है। यदि भाषाओं की ओर मुड़े तो पायेंगे वहाँ चित्रात्मक लिपि में लिखने की पुस्त परंपराएँ हैं। तथा वामाक्षरी पद्धतियाँ भी अत्यंत विकसित हैं। कहने का अर्थ यह है कि ध्वन्यात्मक लेखन की ऐतिहासिक यथा वैज्ञानिक पद्धतियाँ हैं जो आज भी भाषाविदों को विस्मित करती हैं साथ-ही-साथ अन्यान्य अन्य विधियाँ भी इस उत्तर आधुनिक समय में प्रचलन में हैं। हमें इतिहास से यह तो याद रखना पड़ेगा कि लेखन की इन पद्धतियों का लोक प्रचलन तो ईसा की छठी शताब्दी से बहु प्रयोग में पाया जाता है किंतु भाषा को भाषिक संकेतों में ढालने, लोक प्रयोग में जारी रखने व सांकेतिक रूप से गुह्यात्मक पद्धति में संरक्षित करने की परंपराएँ लिपियों के लोक प्रचलन से पाँच हज़ार साल पुरानी हैं। एशिया की धरती पर कुछ हज़ार साल पूर्व ही मनुष्य के वाक्यत्रय से निकली ध्वनियों का उस काल के अध्येताओं, मनीषियों ने जो वर्गीकरण किया था उसी से उत्पन्न लेखन व ज्ञान की अनेक धाराओं के विधिवत् ज्ञानार्जन के अनुशासन की विधियाँ जन-सुलभ रही हैं।

एशिया के भाषाई मानचित्र में प्राचीन भाषाओं का परिगणन कठिन कार्य नहीं है हेब्रू, अरबी, संस्कृत, फारसी, तमिल आदि तो क्लासिकल भाषाओं का दर्जा पा चुकी हैं इन्हीं भाषाओं के समानान्तर अन्य भाषाओं के क्लासिकल रूप की चर्चा भी रुचिकर चर्चा है जो भाषाओं के प्राचीन स्वरूप की उत्पत्ति के बारे में नित

नई खोजों के कारण नित्य-नवीन है। इन भाषाओं में रचित साहित्य एशिया के अतीत को अधिक वर्णमय घोषित करता है।

एशिया प्रकरण में भारत का अस्तित्व इतिहास के आधार स्तंभों के रूप में देखा जाएगा। कहना होगा कि एशिया का इतिहास भारत के बिना अधूरा है। एशिया के भूगोल की भारत एक ऐसी कड़ी है जो फिलीपाइन्स, कोरिया और कस्तूतूनिया से भी जुड़ी हुई है। और उसका कारण है भारत की उपस्थिति। अंग्रेजों ने भारत की उपस्थिति का केवल राजनैतिक मानचित्र भारत उपमहाद्वीप के रूप में स्वीकार किया। और यह करते हुए उन्होंने अपने राज्य विस्तार के मंसूबों को आगे नहीं बढ़ाया। इसके कई कारण हो सकते हैं परंतु मुख्य कारण था वे भारत की प्रतिभा, शक्ति और भारत के प्राकृतिक महत्त्व से विस्मित थे। उन्होंने छल-छद्म द्वारा भारत को तोड़ने के अपने षडयंत्रों में कोई कमी नहीं आने दी। उन्होंने भारत को दास बनाने के हर कदम को मज़बूत बनाने की चेष्टा की किंतु वे भारत को पराजित नहीं कर सके बल्कि उन्हें बाद में भारत को बर्तानिया का मेरुदण्ड स्वीकारना पड़ा। भारत छोड़ने के बाद भी वे भारत को पूरी तरह छोड़ नहीं पाए। उन्होंने अंग्रेजमय भारत बना कर उसे एशिया में छोटा रचने की घिनौनी कोशिश की थी। परंतु वे उसमें भी सफल नहीं हो पाए। वे समझ ही नहीं सके कि भारत भौगोलिक और राजनैतिक सत्य यही है। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि एशिया के संदर्भ में हमें भारत को एक ऐसा सांस्कृतिक अस्तित्व मानना होगा जो समूचे एशिया के लिए अर्थ रखता है।

अतः एशिया प्रकरण में भारत का अस्तित्व भिन्न अर्थात् भूगोल और राजनीति से भिन्न मानना पड़ेगा। एक छोटी-सी भौगोलिक वृत्ति का ही आसरा लें तो भारत उस क्षेत्र को मानना पड़ेगा जहाँ मानसून असर करता है किंतु आधुनिक शोध मानसून का उत्स मूमध्य सागर और प्रशांत महासागर से जुड़ा मानते हैं। भारतीय क्षेत्रों में मानसून की आवाजाही के लिए प्रशांत महासागरीय हलचलों को वैज्ञानिक आधार स्वीकार किया जाता है। यह अत्याधुनिक खोजों का परिणाम है। दो हज़ार वर्ष पूर्व के कवियों ने भारत के बारे में जो विवरण दिए हैं उन्हें आधुनिक मनुष्य ने अतिशयोक्ति घोषित किया है। प्राचीन विवरणों के मुताबिक भारत के विशेष अर्थ से उसकी बुनावट भी जुड़ी है। और उसकी बुनावट को ही प्रकृति की एक विशेष कृति मानकर उसका अर्थ अलग से स्पष्ट करना व्याख्याओं की कलाबाजी भी कहा जा सकता है। परंतु एशिया के संदर्भ में विशेष अर्थ का क्या वैज्ञानिक आधार है? अनेक नये और पुराने शोध इस पर अनेकार्थी टिप्पणियाँ करते हैं तब इतना तो समझ में आता है कि वैज्ञानिक कोणों का अध्ययन बराबर होते रहना चाहिए क्योंकि सृष्टि के निर्माण के, अवतरण के संदर्भ में कुछ नये तर्क मिलते रहते हैं। इसी आशय से कि भारत का अगर वैज्ञानिक अर्थ-संदर्भों में यदि कोई विशेष अर्थ है तो वह इसलिए

विवेचना के योग्य है कि वह अन्य अनेक परिदृश्यों की विश्वसनीय भूमि का उल्लेख संभव बनाता है।

भारत की भाषाओं पर ही अगर हम इसी दृष्टि से विचार करें तो हमारे हाथ अनेक ऐसे तथ्य और प्रमाण जुटने लगेंगे जो एक नये आध्यात्मिक भारत की रचना कर डालते हैं जिसे सीधे-सीधे 'ज्ञान भूमि' का महत्तम आधार मानना ही पड़ेगा। हम तटस्थ होकर इस बात पर गौर करें तो हम पायेंगे हाँ भारतीय भाषाओं की अंतःसंबद्धता का कोई सूत्र है जो एक दूसरे से जुड़ा हुआ है। इसीलिए अनेक भाषाशास्त्री मूल भाषा के रूप में विश्व प्राचीन भाषा संस्कृत से समतुल्य रूपों का उत्खनन करने लगते हैं। यह एकदम अलग प्रश्न है कि अभिव्यक्ति की पूर्णता को लेकर होने वाली बहस में हम प्राचीनता को कोई विशेष मूल्य नहीं देते क्योंकि हमारे पास सदियों के भाषा व्यवहार में आए परिवर्तनों के अध्ययन के वैज्ञानिक सूत्र उपलब्ध नहीं हैं। तथापि कई भाषाशास्त्री परिवर्तनों की प्रक्रिया के कालखण्डों की चर्चा करते हुए यह भी स्वीकारते हैं कि भाषाओं को प्रभावित करने वाले तकनीकी आधार भी परिवर्तित होते रहते हैं।

भारतीय भाषाएँ इसी अर्थ में एक अलग-सी इकाई हैं जिन्होंने एक दूसरे को अनेक रूपों में प्रभावित किया है। एक कदम आगे

बढ़कर यह भी कहा जा सकता है कि यह प्रभाव केवल भारतीय भाषाओं तक सीमित नहीं है। भारतीय भाषाओं ने एशियाई भाषाओं को भी अनेक कालखण्डों में प्रभावित किया है। उस प्रभाव का आकलन भाषा के ध्वन्यात्मक रूपाधार के रूप में तो किया ही जाता है उसके प्रभावों के प्राचीन अंश भाषागत उच्चारणों की उन बारीकियों में भी देखा जा सकता है जो आज भी विद्यमान हैं। इसमें संदेह नहीं कि एशियाई भाषाओं पर पड़े प्रभाव का अध्ययन जब भी होगा तब नये निष्कर्ष सामने आयेंगे और वे नये निष्कर्ष एशिया के लोक की विस्मृति के बारे में नई सूचनाओं से एशिया की भाषाओं को समृद्ध करेंगे।

भारत में एशियाई भाषाओं पर अलग से गंभीर होकर काम करने की ज़रूरत है और यह तभी संभव है जब अकादमिक स्तर पर स्वीकार किया जाएगा कि तमाम एशियाई विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में एशियाई भाषाओं, एशिया की लोकभाषाओं का शिक्षण आरंभ हो। इससे एशियाई भाषाओं की समृद्धि के रेखांक भी सामने आयेंगे और उनकी अंतःसूत्रता (एकसूत्रता) के प्रमाण भी स्वतः उद्घाटित होंगे।